गुरुकुल पत्रिका

ओ३म्

मासिक शोध पत्रिका



प्रो. महावीर

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध–पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

प्रो० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –२४९४०४

जनवरी – अप्रैल सन् २००३ ई०	वर्ष ५५ वां	माघ - वैशाख सम्वत् २०६०

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल हरिद्वार फोन : 845975

विषयानुक्रमणिका

वेदमञ्जरी

शग्धि पूर्धि प्रयंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्।
पूषन्निह क्रतुं विदः।। ऋग्. १.४२.९

ऋषि: कण्वः घौरः। **देवता** पूषा। **छन्दः** गायत्री।

(पूषन्) हे पुष्टिशील जीवात्मन्! त्वम् **(शग्धि)** सशक्तो भव, **(पूर्धि)** स्वात्मानं पूर्णं कुरु, **(प्रयंसि च)** प्रयासं च कुरु। **(शिशीहि)** स्वात्मानं तीक्ष्णं कुरु, **(प्रासि उदरम्)** पूरय च जठरम्। **(इह)** अस्मिन् जगति **(क्रतुं)** कर्तव्यं कर्म **(विदः)** जानीहि।

हे जीवात्मन्! त्वं 'पूषा' वर्तसे, स्वयं पुष्टिशीलोऽसि, स्वकीयमनोबुद्धीन्द्रियादिकाय चापि पुष्टिप्रदाता विद्यसे। परं यदि त्वमेव अपरिपुष्टः सन् निर्बलस्तिष्ठसि तर्हि शरीरस्य सकलं साम्राज्यमेव विकृतं जायते। अतस्त्वं स्वकीयं 'पूषा' इतिनाम सार्थकं विधेहि। त्वं सशक्तो भव, तथाविधः शक्तिधरो भव यद् यान्यपि अन्तर्द्वन्द्वानि मायाविनः कामक्रोधादिकाः शत्रवो वा त्वत्तः संघर्ष कर्तुमागच्छेयुस्तेषा पराजयाय समर्थो भव। त्वं स्वात्मानं पूर्णं कुरु, पूर्णमास्याश्चन्द्र इव पूर्णो जायस्व। विकासनिरोधकारणात् त्वयि या अपूर्णता दृश्यते तां त्वं दूरीकुरु। सा अपूर्णता दूरीभविष्यति प्रयासेन। अतस्त्वं प्रयासं कुरु। पूर्णतायै प्रयासं कुरु, समृद्ध्यै प्रयासं कुरु, कर्त्तव्यपालनाय प्रयासं कुरु, स्वकीयं दिव्यगुणसाम्राज्यं परिवर्धयितुं प्रयासं कुरु। नहि प्रयासं विना स्वयं सफलता द्वारमागच्छति। त्वं स्वात्मानं तीक्ष्णं कुरु, जागरूकं प्रतिभान्वितं प्रखरं च विधेहि। प्रखरता हि सकलशत्रूणां सम्मुखम् अभेद्यदुर्गं भूत्वा स्थातुं शक्नोति, विजयप्राप्त्यै च सहायिका भवति। कुण्ठा तद्विपरीतं संशयेषु पातयित्वा पराजयकारणं जायते।

हे जीवात्मन्! त्वम् उदरपूर्तिं कुरु। तव स्वकीयम् उदरं शरीरस्य उदराद् विशालतरं विद्यते। शरीरस्योदरं तु स्वल्पेन भोजनेन पेयपदार्थेन चापि पूर्यते, किन्तु तवोदरे यदपि पात्यते तन्न्यूनमेव जायते। तव क्षुधा आध्यात्मिकी क्षुधा वर्तते। सा सामान्येन भोजनेन न, प्रत्युत सत्यशीलतारूपेण, व्रतपालनरूपेण, यज्ञरूपेण, वेदाध्ययनरूपेण, अहिंसारूपेण, शुचितारूपेण, त्यागरूपेण, परिपक्वतारूपेण, ब्रह्मसाक्षात्काररूपेण वा भोजनेन शान्ता भवति। तद् भोजनं त्वं स्वात्मनेऽपि सञ्चिनुहि, तेन इतरेषाञ्चापि जनानाम् उदरं पूरय। हे पूषन्! अपि मदीय जीवात्मन्! त्वम् अस्मिन् देहे निवासं कुर्वन् स्वकर्तव्यं परिचिनुहि। कर्तव्यबोधं विना नैव समुचितदिशायां प्रयासो भवितुमर्हति, नैव समुचितदिशायां पूर्णता प्राप्तुं शक्यते, न चापि समुचितरूपेण तीक्ष्णता सम्पादयितुं शक्यते। हे आत्मन्! यदि त्वं वेदस्य एतां प्रेरणां वास्तविकरूपेण आत्मसात् करिष्यसि, तदैव त्वं वास्तविकः 'पूषा', पुष्ट्या देवो वा भविष्यसि।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय...........

भारतवर्ष की धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक दुर्दशा को देखकर देशोद्धारक आदित्य ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने १८७५ में मुम्बई नगरी में आर्यसमाज की स्थापना की थी। उस समय देश परतन्त्रता की श्रृङ्खला में बन्धा हुआ था। सब ओर अज्ञान अन्धकार की काली घटाएं छाई हुई थीं। गौ, ब्राह्मण, विधवा, अनाथों का करूण क्रन्दन सुनकर महर्षि का सहज, दयालु हृदय द्रवित हो उठा था और मानवता की सेवा के लिए वे समस्त सुखों को तिलाञ्जलि देकर कर्म क्षेत्र में अवतीर्ण हो गये थे। वे भारत को पुन: विश्वगुरू के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। प्राचीन वैदिक ज्ञान की गंगा प्रवाहित कर सबको सच्चे सुख का मार्ग बताना चाहते थे। हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराकर संसार में व्याप्त पाखण्ड और अज्ञान को जब ऋषि ने ललकारा था, तो सब ओर हलचल मच गई थी, स्वामी जी जिनका कल्याण चाहते थे, वे ही शत्रु बनकर विष के प्याले लेकर खड़े हो गये। ईट और पत्थर बरसाते रहे, नाना प्रकार से स्वामी जी का अपमान करते रहे, बड़े–बड़े प्रलोभन भी दिये गये, भयभीत करने का षड़यन्त्र भी चलता रहा, किन्तु धन्य है ! ऋषिवर, आप सत्य पथ से किञ्चिन् मात्र भी विचलित नहीं हुए। याद आते हैं ऋषिवर के वे शब्द जो उन्होंने अमृतसर में अपमानित होने पर आर्यजनों से कहे थे– **"मैंने आर्यसमाज रूपी एक बगीचा लगाया है, इसमें मेरी भूमिका एक माली की है, माली जब पेड़–पौधों को खाद, पानी देता है तो थोड़ी बहुत धूल उड़कर माली के सिर पर आ ही जाती है। परहित और परोपकार में मान, अपमान, हानि और लाभ सहना ही पड़ता है। मेरी तो केवल एक ही इच्छा है कि आर्यसमाज रूपी यह उद्यान सदा हरा भरा रहे।"**

२ अप्रैल २००३ को चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के पावन अवसर पर नव संवत्सर का स्वागत, अभिनन्दन करते हुए तथा आर्यसमाज का स्थापना दिवस मनाते हुए हमें देश की वर्तमान दशा और दिशा पर विचार करते हुए आर्यसमाज के उज्ज्वल इतिहास पर भी दृष्टिपात करना होगा।

स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने जीवन सुमन अर्पित करने वाले वीर शहीदों का प्रेरणास्रोत आर्यसमाज, लार्ड मैकाले की दूषित शिक्षा प्रणाली को समाप्त कर प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति को प्रतिष्ठित करने के लिए स्वयं को तथा अपने लाड़ले पुत्रों को, धन–संपत्ति को अर्पित कर देने वाला स्वामी श्रद्धानन्द का आर्यसमाज, डी.ए.वी. स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना कर शिक्षा क्षेत्र में क्रान्ति कर देने वाला महात्मा हंसराज का आर्यसमाज, वेद विद्या का सम्पूर्ण संसार में प्रचार–प्रसार करने के लिए कृतसंकल्प आर्य समाज, समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने के लिए तथा स्वराज्य, स्वभाषा, स्वधर्म, स्वसंस्कृति की संस्थापना के लिए दृढ़ निश्चयी आर्यसमाज।

आज हम जब आर्यसमाज का स्थापना दिवस मना रहे हैं तो हमें चिन्तन करना ही होगा कि हम क्या थे? क्या हो गये? आगे किस ओर जाना है? आर्यसमाज के पास वेद का पवित्र ज्ञान है, **महर्षि दयानन्द, पं. लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, शहीदे आज़म भगत सिंह, पं. रामप्रसाद बिस्मिल, पं. गुरुदत्त विद्यार्थी** का तप, त्याग, बलिदान है। सम्पूर्ण संसार को सत्य मार्ग दिखाने में सक्षम महर्षि दयानन्द विरचित सत्यार्थप्रकाश सदृश अमर ग्रन्थ हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय जैसी विशाल शिक्षण संस्थाएं हैं। उच्च कोटि के विद्वान् लेखक, वक्ता, उपदेशक हैं। आवश्यकता है, एक बार पुन: संगठित, संकल्पित होकर **"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"** के उद्घोष को हृदय में धारण करने की।

देश आर्यसमाज को आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। आतंकवाद, भ्रष्टाचार और दुराचार का दानव विश्ववारा भारतीय संस्कृति को, भारतीय जीवन मूल्यों को, भारतीय आदर्शों को नष्ट करना चाहता है। गत वर्ष गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के शताब्दी समारोह में देश–विदेश से श्रद्धापूर्वक आये हुए आर्यों के विशाल जनसमूह ने आशा और विश्वास की नई किरणें प्रकाशित की थी। २७ अप्रैल २००३ को पंजाब की धरती पर विशाल आर्य महासम्मेलन इस विश्वास को और सुदृढ़ करेगा।

गुरुकुल–पत्रिका का यह अंक आपके कर कमलों में प्रेमपूर्वक अर्पित करते हुए नववर्ष की शुभकामनाएँ । साथ ही नववर्ष में आर्यसमाज कुछ नया कर सके, यही प्रभु से प्रार्थना है।

प्रो. महावीर

प्रभो ! हम सत्पथ पर चलें।

ओ३म् मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्तः स्थुर्नो अरातयः।।

अथर्व. १३.१.५९, ऋ. १०.५७.१

अन्वयः— इन्द्र ! वयं पथः मा प्रगाम सोमिनः (वयम्) यज्ञात् मा (प्रगाम)। अरातयः न अन्तः मा स्थुः।

अन्वयार्थः— (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् प्रभो ! (वयं पथः मा प्रगाम) हम सत्पथ से कभी विचलित न हों। हे परमेश्वर ! (सोमिनः यज्ञात् मा प्रगाम) ऐश्वर्यशाली होकर हम यज्ञादि शुभ कर्मों से कभी विचलित न हों (अरातयः नः अन्तः मा स्थुः) यज्ञादि शुभ कर्मो में बाधा पहुँचाने वाले अराति भाव—अदान भाव—स्वार्थ भाव या काम, क्रोध आदि शत्रु हमारे भीतर न रहें।

हे इन्द्र ! हे ऐश्वर्यों के भण्डार परमेश्वर ! इस में कोई सन्देह नहीं, कि तू इन्द्र है, ऐश्वर्यों का स्वामी है, ऐश्वर्यों का ही नहीं परमैश्वर्यो का भी तू स्वामी है। संसार के सर्वविध ऐश्वर्य तुझ से ही प्रवाहित होते रहते हैं। सांसारिक अवर ऐश्वर्य ही नहीं वरन् परमैश्वर्य के आध्यात्मिक अनुपम ऐश्वर्य के परमानन्द के दिव्य स्रोत भी तो तुझ से ही प्रवाहित होते रहते हैं। प्रभुवर ! यह जानते हुए भी हम यहाँ तुझ से ऐश्वर्यों की धन वैभवों की प्रर्थना नहीं करते, सुख सौभाग्यों की अभ्यर्थना नहीं करते। हे जगदीश्वर! हम तो यहाँ तुझ से केवल यही विनय करते हैं कि (वयं पथः मा प्रगाम) हम पथ के सुपथ से कभी विचलित न हों, हम सन्मार्ग से —राहे, रास्ता से कभी भटक न जायें।

हे इन्द्र ! हे जगदीश ! तेरी पावन छत्र—छाया में वर्तमान रहते हुए नित्य प्रति सत्पथ—सन्मार्ग पर चलते हुए जो भी हमें धन—वैभव, सुख—सौभाग्य, प्राप्त होगा, वही हमारे लिए वास्तविक ऐश्वर्य होगा, वही वास्तव में हमारे लिए सच्चा धन वैभव होगा।

सत्पथ से उपलब्ध हुए उस ऐश्वर्य से (सोमिनः) ऐश्वर्यशाली बने हुए हम (यज्ञात् मा प्रगाम) यज्ञ मार्ग से विचलित न होवें। अर्थात् हम तेरी पावन छत्र—छाया में जहाँ सत्पथ पर

चलते हुए ऐश्वर्य प्राप्त करें वहाँ उस ऐश्वर्य को पाकर सत्पथ पर चलते हुए ही अर्थात् यज्ञ आदि शुभ कर्मों को करते हुए ही उसका व्यय करें।

हम सत्पथ से उपलब्ध उस धन—वैभव का ऐसे ढंग से उपयोग करें कि जिस से हमारा ब्रह्म यज्ञ, सम्पन्न होता रहे—अर्थात् हमारी वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वाध्याय में तथा तुझ ब्रह्म में निरन्तर श्रद्धा बढ़ती रहे, विश्वास बढ़ता रहे। उस धन का हम 'देव यज्ञ' में ऐसे ढंग से व्यय करें कि जिस से जहाँ वायुमण्डल की शुद्धि होती रहे वहां यज्ञ में वेद मन्त्रों के उच्चारण और मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन आदि से वातावरण की पवित्रता के साथ—साथ हमारे आहार, व्यवहार और आचारों में भी दिव्यता आती रहे। 'बलिवैश्वदेव' यज्ञ में अर्थ का ऐसा उपयोग करते रहें कि जिससे गौ, कुक्कुट, काक आदि भी भूख, प्यास से विह्वल होकर यमराज के अतिथि न बन जायें। ऐसी विधि से 'पितृयज्ञ' में धन को खर्च करते रहें कि हमारे माता—पिता, दादा आदि आदि पितृ जन सदा अन्न—पान, वस्त्र, सेवा—शुश्रुषा आदि से तृप्त होते रहें। ऐसे ढंग से 'अतिथियज्ञ' में धन का उपयोग करें कि ब्रह्मचारी, विद्वान्, ज्ञानी, तपस्वी, साधु—संन्यासी आदि कभी भोजन आच्छादन आदि के अभाव में प्रचार एवं परोपकार आदि कर्मों से उपरान्त न हो जायें।

हे इन्द्र ! इस प्रकार जहाँ तेरी कृपा से सत्पथ पर चलते हुए, जिस धन—वैभव से हम धनी मानी बनें वहां उसको सत्पथ पर ऋतपथ पर—यज्ञमय पथ पर उदार भाव से व्यय करके भी हम यशस्वी बनें।

प्रभुवर ! हमारा सत्पथ से पुरुषार्थपूर्वक उपलब्ध हुआ—हुआ धन—वैभव सदा देवों की पूजा में—सेवा शुश्रूषा में लगे। अपने समान स्थिति वालों पर भी कभी कष्ट आपत्ति आ जाए तो उनकी सहायता सहयोग में लगे। हम से जो निम्न स्थिति वाले दीन हीन जन हों, उनकी सुख सुविधा में लगे।

हे परमेश्वर ! ऐसे यज्ञमय प्रसंगों में परोपकारमय कर्मों में, कल्याणमय शुभ कृत्यों में, दीन हीनों की सेवा सहायता रूप कार्यों में (अरातयः नः अन्तः मा स्थुः) बाधा डालने वाले अराति भाव—अदान भाव—स्वार्थ भाव हमारे भीतर कभी न रहें। क्योंकि ये अराति भाव, ये अदान भाव, ये स्वार्थ भाव हमें अपने तन, मन, धन रूप ऐश्वर्य के सदुपयोग के सौभाग्यमय अवसरों से वञ्चित कर देंगे, आयु, अनुभव तथा ज्ञान वृद्ध दिव्य महापुरुषों के मान—सम्मान

और सेवा–सुश्रूषा से हमें वंचित कर देंगे, समय आने पर बन्धु–बान्धव एवं सखाओं की *सहायता सहयोग* रूप सुकर्मों से हमें वञ्चित कर देंगे, दीन–दुखियों, पीड़ितों, असहायों और *अनाथों के पेट की आग* बुझाने से, उनकी नग्न देहों को ढक कर उनकी लाज बचाने से, उनको औषधोपचार द्वारा नीरोग करने से हमें वञ्चित कर देंगे, उनको धैर्य और सान्त्वना देकर उनके आँसू पोंछने और उनके भीतर के घावों पर मरहम लगाने रूप सुकर्मों से हमें ? वञ्चित कर देंगे। इतना ही नहीं इस के परिणामस्वरूप हमारे ये अपने ही अरातिभाव–अदानभाव स्वार्थभाव हमें उन आयु, अनुभव एवं ज्ञानवृद्ध, ज्ञानी, तपस्वी, संन्यासी, योगी, महानुभावों के पावन स्नेह एवम् आशीर्वाद से वञ्चित कर देंगे, प्रिय मित्रों के निश्छल स्नेह और सहयोग एवं शुभकामनाओं से हमें वञ्चित कर देंगे तथा दीन–हीन अनाथ एवं पीड़ित मानवों के स्नेह, सम्मान, श्रद्धा और शुभ कामनाओं, धन्यवादों तथा साधुवादों से हमें वञ्चित कर देंगे। अतः–

हे इन्द्र ! हे जगदीश ! हे हृदय सम्राट प्रभुदेव ! हमें सत्पथ पर चलाना और सत्पथ पर चलाकर ऐसा पावन ऐश्वर्य प्राप्त कराना जिस से कि हम ऐश्वर्यशाली बन कर कभी स्वार्थी न बन जायें, स्वार्थी बन कर कहीं स्वयं ही, खाने–पीने और मौज उड़ाने में न लग जायें तथा भोगविलासों में न पड़ जायें, वरन तेरी कृपा से तेरे उस ऐश्वर्य को प्राप्त कर हम यज्ञ आदि शुभ कर्मों का आचरण करें। यज्ञ आदि परोपकारमय शुभ कर्मों को सम्पन्न करने पर जो यज्ञ–शेष रह जाये, उस यज्ञ–शेष को ही हम तेरा धन्यवाद करते हुए उपभोग करें–तेरे प्रति कृतज्ञतावश झूम–झूम कर उस यज्ञशेष का सेवन करें। यही है अभ्यर्थना, यही है प्रार्थना, यही है याचना, स्वीकार करो और हमारा सर्वविध कल्याण करो।

(स्व. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार विरचित 'वैदिक प्रार्थना सौरभ' से साभार)

उपनिषदों में तिङन्त व्यत्यय

(पद, गण, विकरण, वाच्य तथा पुरुष व्यत्यय के सन्दर्भ में)

संस्कृत भाषा को काल क्रम की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है। वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत। इन्हीं को पाणिनि ने क्रमशः छान्दस् तथा भाषा (वेदे तथा लोके) नाम से सम्बोधित किया है। वैदिक संस्कृत के अन्तर्गत वैदिक साहित्य अर्थात् संहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों का समावेश होता है। आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण से लेकर आज तक लिखा जा रहा साहित्य लौकिक संस्कृत के अन्तर्गत आता है।

पाणिनि का व्याकरण शास्त्र मुख्य रूप से लौकिक संस्कृत का ही विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यद्यपि यत्र तत्र वैदिक साहित्य से सम्बन्धित नियमों का भी उल्लेख किया है। जहाँ कहीं भी लौकिक संस्कृत से भिन्न स्थिति आई है वहाँ पर उन्होंने "बहुलं छन्दसि" कह कर वैदिक संस्कृत का स्पष्टीकरण किया है। उदाहरणार्थ लौकिक संस्कृत में अदादिगण में पठित धातुओं से सार्वधातुक लकारों में तिङ् प्रत्यय आने पर शप्[1] आगम तथा शप् लुक्[2] का विधान है। परन्तु वैदिक संस्कृत में बहुलं छन्दसि[3] नियम शप् लुक् के अभाव की व्याख्या करता है। "वृत्रं हनति वृत्रहा" जैसे उदाहरण में अदादिगणी हन् धातु तथा तिप् प्रत्यय के मध्य आने वाले शप् विकरण का लुक् नहीं हुआ है। इसी प्रकार "अहिः शयत उप पृक् पृथिव्याः" मे शी धातु तथा त प्रत्यय के मध्य शप् का लुक् नहीं हुआ है। लौकिक संस्कृत में शेते रूप बनता है।

इसके विपरीत अदादिगण से भिन्न धातुओं में शप् लुक् मिलता है। यथा "त्राध्वं नो देवाः" में भ्वादिगणी त्रै धातु तथा ध्वम् प्रत्यय के मध्य होने वाले शप् विकरण का लुक् हुआ है। लौकिक संस्कृत में त्रायध्वम् रूप बनता है।

इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में जुहोत्यादिगण में पठित धातुओं के लिए विधान है कि धातु तथा तिङ् के मध्य आने वाले शप् का श्लु[4] हो। परन्तु वैदिक प्रयोग के लिए बहुलं छन्दसि कह कर श्लु का अभाव भी दिखाया गया है। "दाति प्रियाणि चिद्वसु" में दा धातु से शप् का श्लु नहीं हुआ है। श्लु होने पर द्वित्व का विधान है।[5] लौकिक संस्कृत में ददाति रूप बनता है। जुहोत्यादिगण भिन्न धातुओं में भी श्लु का प्रयोग मिलता है। "पूर्णा विवष्टि" जैसे उदाहरण में अदादिगणी वश् कान्तौ धातु से तिङ् प्रत्यय आने पर शप् को श्लु होने से द्वित्वादि कार्य होकर विवष्टि रूप बनता है। इसके अभ्यास को इकार भी बहुलं छन्दसि से ही होता है।

लघु सिद्धान्त कौमुदी में कृत्यल्युटो बहुलम्[6] सूत्र पर बहुलं के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण देते

हुए कहा है—

"क्वचित्प्रवृतिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकम् वदन्ति।।"

अर्थात् कहीं अप्राप्त में भी प्राप्त होना, कहीं प्राप्त में भी अप्राप्त होना, कहीं विकल्प से प्राप्त होना तथा कहीं तीनों से भिन्न अर्थात् विकल्प में भी नित्य प्राप्त होना—इस प्रकार विधि के विधान को अनेक प्रकार से देखकर बहुलता को चार प्रकारों में विभक्त किया गया है।

सभी प्रकार की लौकिक संस्कृत से भिन्न वैदिकी की विशेषताओं को समाहित करने के लिए महाभाष्यकार पतंजलि ने पाणिनि के "व्यत्ययो बहुलम्"[7] सूत्र का सहारा लिया है।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—

"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धयति बाहुलकेन।।"

इस निष्कर्ष के लिए उन्होंने व्यत्ययों बहुलं का योग विभाग करके प्रकरणान्तर्गत विहित जो स्यादि विकरण है उनका व्यत्यय सिद्ध किया है। द्वितीय योग विभाग बहुलं से वेद विषय में पूर्वोक्त कारिका में निर्दिष्ट सभी विधियों का व्यत्यय सिद्ध किया है।

व्यत्यय शब्द का उन्होंने अर्थ दिया है— "व्यतिगमनं व्यत्ययते यस्य प्राप्तिः स न स्यादन्य एव स्याद् अथवा कोऽपि न स्याद्।" अर्थात् व्यतिक्रमण को व्यत्यय कहते हैं। किसी विषय में प्राप्त कुछ हो और कुछ हो जाए, अथवा कुछ न हो— यही व्यत्यय है। उपग्रह शब्द से अभिप्राय आत्मनेपद तथा परस्मैपद से है। नर शब्द पुरुष व्यत्यय का वाचक है।

"धुरि दक्षिणायाः"[8] जैसे उदाहरण में सुप् व्यत्यय है। यहाँ पर दक्षिणस्याम् के स्थान पर सप्तमी के विषय में व्यत्यय से षष्ठी का प्रयोग है। "चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति"[9] में तक्षन्ति की प्राप्ति होने पर झि विषय में तिप् का व्यत्यय है। "त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्"[10] में शुधितम् की प्राप्ति होने पर धकार के स्थान पर भकार वर्ण व्यत्यय है। "मधोर्गृह्णति", "मधोस्तृप्ता इवासते" में मधुनः के प्रयोग के स्थान पर मधोः के प्रयोग में नपुंसकलिङ्ग के विषय में पुंलिङ्ग का व्यत्यय है।

श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्व सोमेन यक्षमाणेन में आधाता एवं यष्टा प्राप्त होने पर अनद्यतन भविष्यत् काल में विहित लुट् लकार के विषय में व्यत्यय से लृट् लकार में स्य का प्रयोग हुआ है। "अधा सवीरैर्दशभिर्वियूथाः"[11] में वियूयात् की प्राप्ति होने पर प्रथम पुरुष के विषय में मध्यम पुरुष का प्रयोग है। "ब्रह्मचारिणमिच्छते"[12] में इच्छति की प्राप्ति होने पर परस्मैपद के विषय में आत्मनेपद का व्यत्यय है। "प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति" में युध्यते की प्राप्ति होने पर आत्मनेपद के विषय में

परस्मैपद की व्यत्यय है।

विकरणों में भी व्यत्यय पाया जाता है। "आण्डा शुणस्य भेदति" में भिनत्ति श्नम् का विषय होने पर शप् विकरण का व्यत्यय है। "जरसा मरते पति:" में म्रियते श विकरण का विषय होने पर शप् का व्यत्यय है। "इन्द्रो वस्तेन नेषतु." में लोट् नयतु के विषय में शप् तथा सिप् के दो विकरणों का व्यत्यय है। "इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्" में तरेम के विषय में उ शप् तथा सिप् तीन विकरणों का व्यत्यय है।

इसी प्रकार धातुओं में पद व्यत्यय, गण व्यत्यय, काल व्यत्यय, नर व्यत्यय, तिङ् व्यत्यय वैदिक साहित्य के अन्तिम चरण उपनिषदों में भी मिलता है। उपनिषद् साहित्य के प्रमुख एकादश–उपनिषदों में प्रयुक्त धातुओं के तिङन्त रूपों के व्यत्यय को दिखाना इस निबन्ध का प्रतिपाद्य है।

संस्कृत भाषा में धातुओं को पदों की दृष्टि से दो वर्गो में बांटा जा सकता है। आत्मनेपद तथा परस्मैपद। परन्तु कुछ धातुएं ऐसी भी उपलब्ध होती है जो दोनों पदों में प्रयुक्त होती हैं। उन्हें उभयपदी कहा जाता है। पाणिनि के अनुसार कुछ धातुएं तो नित्य परस्मैपदी हैं तथा कुछ नित्य आत्मनेपदी हैं परन्तु जो धातुएं उभयपदी हैं उनके लिए पाणिनि ने विधान किया है कि यदि क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त हो तो धातु आत्मनेपदी होती है[13] तथा क्रिया का फल कर्त्ता भिन्न किसी अन्य को प्राप्त हो तो धातु परस्मैपदी होती है।[14]

इनके अनुसार यज्ञदत्त: कटं कुरुते का अर्थ है कि यज्ञदत्त अपने लिए चटाई बनाता है। यज्ञदत्त: कट करोति का अर्थ है कि यज्ञदत्त अन्य व्यक्ति के लिए चटाई बनाता है। उपनिषदों में पद की दृष्टि से इस प्रकार की व्यवस्था का परिपालन नहीं हुआ है। आत्मनेपद तथा परस्मैपद का सुविधानुसार प्रयोग हुआ है। उपनिषदों में पाणिनि निर्दिष्ट नित्य परस्मैपदी तथा नित्य आत्मनेपदी धातुएं विपरीत पदों में प्रयुक्त हुई हैं। उभयपदी धातुएं आत्मनेपद तथा परस्मैपद में से किसी एक पद में प्रयुक्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त जो धातुएं पाणिनि के अनुसार नित्य परस्मैपदी या आत्मनेपदी हैं उनका उभयपद में भी प्रयोग मिलता है।

पदव्यत्यय

पद व्यत्यय की दृष्टि से उपनिषदों में प्रयुक्त धातुओं को निम्न वर्गो में वर्गीकृत किया जा सकता है–

परस्मैपदी ---> आत्मनेपदी

इस वर्ग के अन्तर्गत उन धातुओं को रखा गया है जो पाणिनि धातु पाठ में परस्मैपदी है

परन्तु उनका उपनिषदों में आत्मनेपद में प्रयोग हुआ है।

भ्रम् ....अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।[१५] ....येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।[१६]

इस उदाहरण में येन पद में हेतु के कारण तृतीया विभक्ति का प्रयोग है। वाक्यांश कर्तृवाच्य का ही है।[१७]

मन्थ् ..... वैनद्रिमथ्यनीरनिति।[१८]

श्वस् .... क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।[१९]

परस्मैपदी ---> उभयपदी:

इस वर्ग के अन्तर्गत उन धातुओं को लिया गया है जो पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी हैं। परन्तु उपनिषदों में वे उभयपदी हैं। यहॉ पर व्यत्यय दिखाने के लिए केवल आत्मनेपदी रूप दिए जा रहे हैं। परस्मैपदी रूप छोड़ दिए गए हैं।

इष् ....पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा....।[२०] (पशून् च इच्छेय इति अथ इच्छेत इमं च लोकम् अमुम् च इच्छेय इति अथ इच्छेत मनो हि आत्मा)

प्रस्तुत उदाहरण में इष् परस्मैपदी धातु आत्मनेपद में प्रयुक्त हुई है।

.....निपृणाति यत्प्रजानिच्छते।[२१] ......तस्मादग्नावेव देवेषु लोकम्—इच्छन्ते।[२२] ......करिष्यन्वाचि। स्वरमिच्छेत .....।[२३] क्रम् सोऽभिमानादूर्ध्वयुत्क्रमते.......।[२४] ......केनोत्क्रमते.....।[२५] ......तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते। ......सर्वा एवोत्क्रामन्ते।[२६] दुहितरम् तदादाय प्रतिचक्रमे।[२७] ....तदादाय प्रतिचक्रमेतं हाभ्युवाद।[२८] ....समित्पाणय: पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे......।[२९]

इन उदाहरणों में उत्क्रामति रूप परस्मैपद का है। शेष उदाहरणों से स्पष्ट है कि क्रम् धातु जो कि पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपदी है उपनिषदों में इसका आत्मनेपद में भी प्रयोग किया गया है।

चर् .....स एवोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान:।[३०] एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु......।[३१]

जि .....सर्वज्यायानिं जीयत आत्मना चेत् ......।[३२]

शंकराचार्य ने अपने शंकरभाष्य में जीतयते का अर्थ....हीयते ग्लानिं प्राप्नोति...किया है।[३३]

प्रस्तुत धातु पाणिनि धातुपाठ में भ्वादिगण एवं चुरादिगण में पढ़ी गयी है परन्तु उपनिषदों में इसका दिवादिगणी रूप भी उपलब्ध होता है।

तं तं जयते।[३४] .....ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।[३५] ...विधयात्मानमन्विष्यादित्यम.... भिजयन्ते.....।[३६]

पाणिनि के अनुसार जि धातु वि तथा परा उपसर्ग पूर्व में प्रयुक्त होने पर ही आत्मनेपदी होती है।[३७] परन्तु उपनिषदों में बिना उपसर्ग के तथा अभि उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होने पर भी इसका आत्मनेपद में प्रयोग हुआ है।

दृश् यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण कर्तारभीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।[३८] ....ततस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः।[३९] ......यो भूतेर्भिर्व्यपश्यत।[४०]

ध्यै ....प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत।[४१] स यद्येकमात्रमभिध्यायीत.....।[४२] परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्ने।[४३]

पाणिनि धातुपाठ में ध्यै धातु भ्वादिगण में परस्मैपद में पठित है। परन्तु उपर्युक्त अभिध्यायीत रूप अदादिगण का स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत है।

भू .....विजानन्द्विद्वान्भवते नातिवादी।[४४]

शंकराचार्य ने भी शांकरभाष्य में भवते की व्याख्या देते हुए कहा है—भवते भवति न भवति इति .....।[४५]

......एकः कृतार्थो भवते वीत शोकः।[४६] .....सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।[४७]

रक्ष मातेव पुत्रान् रक्षस्व ......।[४८]

मृज् .....निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।[४९]

वद् .....स मेने न वदिष्य इत्यथ.....।[५०] .....नानिवदते....।[५१] .....इतीहाग्नीनभ्यूदे......।[५२]
....अहॉश्रेयासि व्यूदिरेऽअहँश्रेयान् .....।[५३] .....वैदहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते....।[५४]
अथ ह्यग्नयः समूदिरे तप्सो ब्रह्मचारी.....।[५५] .....जात शत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठाः ...।[५६]

विद् ......एनं प्रजाययुद्रीयं वेदिष्यन्ते.....।[५७] .....वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते।[५८]

विश् .....तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।[५९]

शंस् .....अबलीयान्बलीयाँत्समाशंसते धर्मेव .....।[६०]

सद् .....मा प्रातरुपसीदथा इति सह....।[६१] .....अथ मोपासीदथा इति....।[६२]

सृज् .....न विसृजते.....।[६३]

स्था ....येनैव भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्म।[६४]....एतान् ग्रामानधितिष्ठस्व।[६५]...प्रातरादिव्यमुतिष्ठते...।[६६]

पाणिनि धातुपाठ में परस्मैपद में पठित स्था धातु का उपनिषदों में आत्मनेपद में भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

स्पृश् .....न स्पृशते.....।[६७]

स्रु .....एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति।[६८]

हन् .....विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृतयां....।[६९] .....एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते......।[७०] ....एतमेवं

विद्वानुपास्तेऽपहते ......।[७१]

हु ......स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः।[७२]

आत्मनेपद ---> परस्मैपद

इस वर्ग के अन्तर्गत वे धातुएं ली गयी हैं जो धातुपाठ में तो आत्मनेपदी हैं परन्तु उपनिषदों में उनका प्रयोग परस्मैपद में उपलब्ध होता है।

शिक्ष् .....तदेतत् त्रयशिक्षेद्दयं दानं दयामिति।[७३]

पाणिनि धातुपाठ में जो धातुएं उभयपद में पढ़ी गयी हैं, उनमें से कुछ धातुएं उपनिषदों में मात्र परस्मैपदी में उपलब्ध होती हैं तथा कुछ धातुएं मात्र आत्मनेपद में उपलब्ध होती हैं। परस्मैपद में प्रयुक्त होने वाली धातुओं की संख्या (२८) आत्मनेपद में प्रयुक्त होने वाली धातुओं की संख्या (९) से अपेक्षाकृत अधिक है।

गणव्यत्यय

उपनिषदों में प्रयुक्त धातुओं में पद व्यत्यय के साथ–साथ गण व्यत्यय भी मिलता है। पाणिनि धातु पाठ में पठित अच्, नम्, ध्मा धातुओं के उपनिषदों में क्रमशः उदच्यते[७४], नम्यन्ते[७५], प्रध्मायीत[७६] रूप दिवादिगण के हैं। भ्वादि एवं तुदादिगण में पठित धृ धातु के धारयस्व[७७], धारयेत[७८], विधारयामि[७९], विधारयामः[८०], विधारयन्ते[८१] रूप चुरादिगण के हैं।

वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत हिन्दी कोश[८२] में इस धातु को चुरादिगण में भी माना है। धृ धातु के चुरादिगणीय रूप नीतिशास्त्र[८३] एवं मनुस्मृति[८४] में भी उपलब्ध होते है।

भ्वादि एवं स्वादिगण में पठित शक् धातु का उपनिषदों में शकेमहि[८५] तुदादिगण का रूप उपलब्ध होता है। धातुपाठ मे अदादिगणीय ईश् धातु का ईशते[८६] रूप भ्वादिगणी है। ही धातु का जो कि पाणिनि धातुपाठ में स्वादिगण में पठित है, उपनिषदो में हीयते[८७] रूप दिवादिगण का है। कालिदास ने रघुवंश के १७ वें सर्ग के ७१ वें पद्य में भी हीयते रूप का प्रयोग किया है।[८८] भ्वादिगण में पठित रिष् धातु के उपनिषदों में रीरिषः[८९] रूप चुरादिगण का उपलब्ध होता है। भ्वादि तुदादि एवं स्वादिगण में पठित क्षि धातु के उपनिषदों में क्षीयन्ते[९०], क्षीयेत[९१], अपक्षीयते[९२] रूप उपलब्ध होते हैं।

भ्वादिगण जि धातु का उपनिषदों में जीयते[९३] रूप दिवादिगण का है। धातुपाठ में भ्वादिगण में पठित ईख् धातु का अभिव्यैख्यत्[९४] रूप उपनिषदों में दिवादिगण का ही उपलब्ध होता है। कृ धातु जो कि धातुपाठ में स्वादिगण एवं तनादिगण में पठित है उपनिषदों में इसका अकरम्[९५] रूप

भ्वादिगण का है।

पाणिनि के अनुसार धातु तथा तिङ् के मध्य एक ही विकरण का विधान है परन्तु उपनिषदों में एक स्थान पर 'अभुनजत्'[१६] जैसे रूप में शप् एवं श्नम् विकरण का एक साथ प्रयोग उपलब्ध होता है।

इनके अनुसार कर्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता के अनुसार तथा कर्मवाच्य में क्रिया कर्म के अनुसार होती है। भाव वाच्य में क्रिया सदैव प्रथम पुरुष, एकवचन की होती है। कर्मवाच्य में धातु आत्मनेपदी होती है। परन्तु उपनिषदों में कर्मवाच्य में भी परस्मैपद का परिमुच्यन्ति[१७] जैसा प्रयोग एक स्थल पर उपलब्ध होता है। साहित्य में मुच् धातु सकर्मक है परन्तु उपनिषदों में इसका अकर्मक के रूप में भी प्रयोग मिलता है। मुण्डक उपनिषद् ३.२.६ में यह छुटना अर्थ में प्रयुक्त है जबकि इसका अर्थ 'छोड़ना' है। यदि इसे कर्तृवाच्य का मानें तो इसे दिवादिगण का रूप स्वीकार करना उचित है।

उपनिषदों में क्रिया रूप पुरुष और वचन को दृष्टि से पाणिनि के अनुसार ही है। कुछ स्थलों पर पुरुष व्यत्यय मिलता है। विमोक्ष्ये में प्रथम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार सम्पत्स्ये में भी प्रथम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है।[१८]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उपनिषदों में तिङन्त रूपों में पद एवं गण व्यत्यय को छोड़कर अन्य व्यत्यय अपेक्षाकृत कम है। आत्मनेपद की अपेक्षा परस्मैपद का प्रयोग अधिक है। परवर्ती लौकिक साहित्य में भी आत्मनेपद का प्रयोग परस्मैपद की अपेक्षा काफी कम हो गया है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में भी आत्मनेपद का प्रयोग परस्मैपद की अपेक्षा पर्याप्त कम किया है। उदाहरणार्थ कृ धातु जो कि उभयपदी है उसका लिट् लकार परस्मैपद में २९ बार प्रयोग है जबकि आत्मनेपद में मात्र आठ बार प्रयोग किया है।

डॉ. आशा
रीडर, संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

सन्दर्भ संकेत :—

१. कर्तरि शप् पा. ३/१/६८
२. अदिप्रभृतिभ्य: शप: पा. २/४/७२
३. पा. २/४/७३
४. जुहोत्यादिभ्य: श्लु: पा. २/४/७५
५. श्लौ पा. ६/१/१०
६. पा. ३/३/११३
७. पा. ३/१/८५
८. ऋग्वेद १/१६४/९
९. ऋग्वेद १/१६२/६
१०. ऋग्वेद १/१०४/१५

११. ऋग्वेद ७/१०४/१५
१२. अथर्ववेद ११/५/७
१३. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। पा. १/३/७२
१४. शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्। पा. १/३/७८
१५. श्वे. उ. १/६
१६. श्वे. उ. ६/१
१७. येनेदं भ्राम्यते परिवर्तते ब्रह्मचक्रम् श्वे. उ. ६/१, शांकर भाष्य, पृ.सं. २२०
१८. वृ. उ. ३/९/२५
१९. श्वे. उ. २/९
२०. छा.उ. ७/३/१
२१. वृ. उ. १/४/१६
२२. वृ. उ. १/४/१५
२३. वृ. उ. १/३/२५
२४. प्र. उ. २/४
२५. प्र. उ. ३/१
२६. प्र. उ. २/४
२७. छा. उ. ४/२/१
२८. छा. उ. ४/२/३
२९. छा. उ. ५/११/७
३०. मु. उ. २/२/६
३१. मु. उ. १/२/५
३२. वृ. उ. १/५/१५
३३. वृ. उ. १/१५/१५ शां. भा. पृ. सं. ३६४
३४. मु. उ. ३/१/१०
३५. प्र. उ. १/९
३६. प्र. उ. १/१०
३७. विपराभ्याम् जेः। पाणिनि १/३/१९
३८. मु. उ. ३/१/८
३९. मु. उ. ३/१/८
४०. कठ. उ. २/१/६
४१. प्र. उ. ५.१
४२. प्र. उ. ५/३
४३. प्र. उ. ५/५
४४. मु. उ. ३/१/४
४५. मु. उ. ३/१/४ शां. भा. पृ. सं. ८९
४६. श्वे. उ. २/१४
४७. मु. उ. २/१/१
४८. प्र. उ. २/१३
४९. तै. शि. व. ४/३
५०. वृ. उ. ४/३/१
५१. प्र. उ. ४/२
५२. छा. उ. ४/१४/२
५३. छा. उ. ५/१/६
५४. बृ. उ. ४/३/१
५५. छा. उ. ४/१०/४
५६. बृ. उ. २/१/२–२/१/१३
५७. छा. उ. १/९/३
५८. बृ. उ. २/२/३
५९. मु. उ. ३/२/४
६०. बृ. उ. १/४/१४
६१. छा. उ. ६/१३/१
६२. छा. उ. ६/१३/२
६३. प्र. उ. ४/२
६४. मु. उ. २/१/९
६५. प्र. उ. ३/४
६६. बृ. उ. ६/३/६
६७. प्र. उ. ४/२
६८. छा. उ. २/२३/२
६९. छा. उ. ४/११/२
७०. छा. उ. ४/१२/२
७१. छा. उ. ४/१३/२
७२. मु. उ. ३/२/१०
७३. बृ. उ. ५/२/३
७४. .....पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।बृ. उ. ५/१/१
.....ब्रह्मपूर्णात् कारणात्मन उदच्यत उद्रिच्यत उद्गच्छतित्येतत्। शां. भा. पृ. सं. ११६३

७५. नमयन्ते अस्मै कामा: तै.भृ. व. १०/४
.......नमयन्ते प्रहरीभवन्ति....। शां. भा. पृ. सं. २३६

७६. छा. उ. ६/१४/१

७७. बृ. उ. ३/८/५

७८. श्वे. उ. २/९

७९. प्र. उ. २/३

८०. प्र. उ. २/२

८१. प्र. उ. २/१

८२. पृ. सं. ५००

८३. भुजंगमपि कोपितं शिरसि धारयेत् भर्तृ २/४।

८४. वैष्णवीं धारयेद्यष्टिम् मनु. ४/३/६

८५. क. उ. १/३/२

८६. श्वे. उ. १/१०, ३/१, ३.२, ५.१

८७. अन्तरामेव वर्तनी संस्करोति हीयतेऽन्यतरा... छा. उ. ४/१६/३ ...ब्रह्मणा संस्क्रियमाणा मनोवर्तनी हीयते विनश्यति छिद्रीभवन्त्यन्यतरा...।। शा. भा. पृ. सं. ४३१

८८. प्रवृद्धौहीयते चन्द्र: समुद्रोऽपि तथा विध: .....रघु. १७/७१

८९. श्वे. ५/४/२२

९०. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिदृष्टे परावरे।। श्वे. उ. २/२/८
......जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीमि च क्षीयन्ते कर्माणि। शां. भा. पृ. सं. ७६
.....नास्यावर पुरुषा: क्षीयन्त उप वन्नं तं......छा. उ. ४/११/२
.....न क्षीयन्ते सन्तत्युच्छेदो न भवतीत्यर्थ:। शां. भा. पृ. सं. ४/११
.....कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽधमानानि सर्वदा बृ. उ. १/५/१/, १/५/२

९१. ......धिया धिया जनयते कर्मनिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयते ह सोऽन्नमत्ति। बृ. उ. १/५/२

९२. ......स वित्तेनैव वा च पूर्यतेऽप च क्षीयते.....। बृ. उ. १/५/१५

९३. .....तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानि जीयत आत्मना चेज्जीवति.....। बृ. उ. १/५/१५
तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं सर्वस्वापहरणं जीयते हीयते ग्लानिं प्राप्नोति...। शां. भा. पृ.सं. ३६४

९४. ऐ. उ. १/३/१३

९५. वृ. उ. ६/४/२४

९६. .....इदं सर्वमेतन्मा सर्व सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टम्....। बृ. उ. १/५/१७

९७. वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितधर्मा: सन्यासयोगाद्यतय: शुद्धसत्त्वा:।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता: परिमुच्यन्ति सर्वे।। मु. उ. ३/२/६
शां. भा. में शंकराचार्य ने परिमुच्यन्ति का अर्थ देते हुए कहा है– परिमुच्यन्ति परिसमन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यम् अपेक्षते। शा. भा. पृ. सं. १११–११२

९८. .....तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति। छा. उ. ४/१/४/२
.....यावन्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यतइत्येतत् पुरुषव्यत्ययेन सामर्थ्यात्....।
.....अथ तथैवसत्सम्पत्स्ये सम्पत्स्यत इति पूर्ववत्। छा. शा. भा. पृ. सं. ६८९

तारके
यङ्ङन्तपदानां प्रयोगवैदुष्यम्

"सा देवभाषाऽखिल्लोकमान्या"[1] इति प्रस्तूयमानायाः संस्कृतभाषाया लौकिकवाङ्मये काव्यादिसाहित्यप्रक्रिया बहुविधाः सुसम्पन्ना दृश्यन्ते। तत्र रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमयकाव्यप्रक्रियायाः महोन्नतस्थानं वर्तते। तत्रैव व्याकरणशास्त्रविषयप्रतिपादकानि रमणीयार्थप्रतिपादकानि च व्याकरणोदाहरण भूतकाव्यानि रावणवधादीनि भटट्यादिविद्वत्कविभिर्विरचितान्यत्यल्पसङ्ख्याकानि स्वीयवैशिष्ट्येन विराजन्ते। तादृशेषु व्याकरणोदाहरणकाव्येषु 'तारकम्' इत्याधुनिकं काव्यमेकं वर्तते।

एतत्काव्यं 'हरिकथापितामहः' इति सुप्रसिद्धा आन्ध्रदेशोद्भूतः श्रीमदज्जाड आदिभट्ट नारायणदासो नाम विद्वत्कविर्विरचितवान्। काव्येऽत्र पञ्च सर्गाः सन्ति। अत्र तारको नाम ब्राह्मणयुवा विबुधपुरराजपुत्रेण साकं, स्वायत्तीकृतभारतवर्षं सार्वभौमं समासाद्य, हितकार्याचरणरूपानुकूलप्रवर्तनेन तं प्रीणयित्वा, तदधीने वर्तमानस्य भारतवर्षस्य स्वातन्त्र्यं सम्पादयति इति कल्पितवृत्तं स्वीकृतम्।

किञ्चास्य रचनायां कविः 'पाणिनीयसूत्राणामवैदिकानामुदाहरणमेतत्काव्यम्'[2] इति प्रतिज्ञामपि कृतवान्। भट्टिकाव्यवद्विराजमानं स्वल्पपरिमाणमेतत्काव्यं पाणिनीयाष्टाध्यायीसूत्राणामुदाहरणभूतैः पदविशेषैर्विराजते। तस्मिन्नेव काव्ये क्रियासमभिहारार्थप्रतिपादकानि पाणिनीयव्याकरणशास्त्रवैदुष्यस्फोरकाणि यङ्ङन्तपदानि च नैकानि सन्दर्भोचितानि दृश्यन्ते।

अस्य काव्यस्य प्रथमसर्गे 'भृशं प्रकाशते' इति सन्दर्भानुगुणार्थप्रतिपादकं 'देदीप्यते' (ता.I.१९) इति यङन्तपदं प्रयुक्तम्। तथैव तस्मिन्नेव सर्गे 'पुनः पुनरन्वभूयत' इत्यर्थप्रबोधकं 'अन्वबोभूयि' (ता.I.४५) इति, 'भृशं बोधितो भवति स्म' इत्यर्थस्फोरकं 'अबोबुधि' (ता.I.४६) इति यङन्तात्कर्मणि लुङ्क्रियापदद्वयं सन्दर्भोचितं प्रयुक्तम्। किञ्च 'पुनः पुनरशेत' इति सन्दर्भोचितार्थप्रदायकं 'असोषुपिष्ट' (ता.I.५१) इति, 'भृशमगात्' इति सन्दर्भानुगणार्थबोधकं 'अजङ्गमिष्ट' (ता.I.५२) इति, तथैव 'भृशमधात्' इत्यर्थबोधकं 'अदादधिष्ट' (ता.I.५३) इति यङन्तलुङ्क्रियापदानि प्रयुक्तानि।

किञ्चास्य काव्यस्य द्वितीयसर्गे 'पुनः पुनः भृशं वा यजते' इत्यर्थप्रबोधकं 'यायजूकः' (ता.II.२६) इति, तथैव 'भृशं रुदन्ती' इत्यर्थस्फोरकं 'रोरुद्यमाना' (ता.II.३४) इति, 'भृशं विज्ञाय' इत्यर्थबोधनार्थं 'बोबुधित्वा' (ता.II.४३) इति च यङ्प्रत्ययविशिष्टसुबन्तपदत्रयं प्रयुक्तम्।

अपि चास्य काव्यस्य तृतीयसर्गेऽपि 'अतिशयेनान्वभूयत' इत्यर्थप्रदायकं सन्दर्भोचितं 'अनुबोभूयाम्बभूवे' (ता.III.२४) इति क्लिष्टतमं महावैयाकरणैकप्रयोगसाध्यं

यङ्ङन्तात्कर्मणिलिट्क्रियापदमेकं प्रयुक्तम्। किञ्चात्रैव 'भृशं वदन्ति' इत्यर्थस्फुरणार्थं 'वावदूकाः' (ता.III.३८) इति यङ्प्रत्ययविशिष्टसुबन्तपदमेकं प्रयुक्तम्।

एतानि सर्वाण्यपि पदानि 'एकाच्काद् हन्नादेर्धातोः क्रियासमभिहारे (पौनः पुन्ये भृशार्थे वा) यङ्प्रत्ययो भवति' इत्यर्थकस्य 'धातोरेकाचो हन्नादेः क्रियासमभिहारे यङ्'[३] इति यङ्प्रत्ययविधायक सूत्रस्य लक्ष्याणि भवन्ति।

किञ्चात्र यङ्प्रत्ययमाश्रित्य पदेष्वेतेषु पाणिनीयसूत्रैर्विहितानि व्याकरणकार्याणि द्वित्त्वादीनि[४] नैकानि दृश्यन्ते।

एवं सन्दर्भानुगुणं तारककाव्ये पाणिनीयव्याकरणानुसारं तत्रदर्थावबोधकानि यङ्प्रत्ययान्तपदानि प्रयुज्य, नारायणदासो विद्वत्कविः स्वीयं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रवैदुष्यं प्रदर्शयामास।

डॉ. वी. रामालिङ्गम
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
श्री वाई.एन. कोलिज
वेस्ट गोदावरी,
आन्ध्रप्रदेश–५३४२७५

सन्दर्भ :–

१. सा देवभाषाऽखिललोकमान्या (तारक.I.श्लो.)

२. अस्मिन ग्रन्थे श्लोकेषु पादपूरणमात्रफलकपदमुपसर्गस्य वोपसर्गसमानाकारस्य पुनरुक्तिरप्रसिद्धोपसर्ग उताप्रसिद्धोपसर्गसमानाकारो भिन्नलिङ्गवचनसादृश्यं लोकातीतपदार्थवाचकशब्दो विना दिव्धातुघटितं नास्ति। ....पाणिनीयसूत्राणामवैदिकानामुदाहरण मेतत्काव्यम् इति प्रतिज्ञा। (तारककाव्यरचनायाम्)

३. पा.सू. ३–१–२२(कौ. २६२९)

४. सन्यङोः (पा.सू. ६–१–९/कौ. २३९५) इत्यादयः।

महाभारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ) निरूपण

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम के रूप में त्रिवर्ग तथा मोक्ष को साथ मिलाकर चतुर्वर्ग की अवधारणा पायी जाती है। इन्हें ही चतुर्पुरुषार्थ भी कहा जाता हैं। मोटे तौर पर धर्म का तात्पर्य जीवन के नियामक तत्त्व, अर्थ से आशय जीवन के भौतिक साधन, काम से आशय जीवन की वैध कामनाएँ तथा मोक्ष से अभिप्राय जीवन के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुरूप ही भारतीय संस्कृति में धर्म शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र की परम्परायें भी रहीं हैं। महाभारत में वस्तुत: पुरुषार्थ का धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के रूप में सभी प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक वर्णन मिलता है स्वयं व्यास जी कहते हैं–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदेहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[1]

हे भरत श्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो बात इस ग्रंथ में है, वह अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। व्यास जी ने इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा (१/६२/२३) है। महाभारत में चारों पुरुषार्थों का विशद् वर्णन तथा जीवन के लिये लक्ष्यभूत इन पुरुषार्थों का क्रम तथा व्यवस्था एवं प्राप्ति या सिद्धि पर भी सूक्ष्म विचार मिलते हैं। शान्ति पर्व में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं–

"तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कात्स्र्न्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता।।"[2]

"मैं धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किन पर अवलम्बित होने पर लोकयात्रा का पूर्णरूप से निर्वाह होता है।" धर्म, अर्थ और काम का मूल कारण क्या है ? इन तीनों की उत्पत्ति का क्या कारण है? ये कहीं एक साथ मिले हुये, कहीं पृथक् क्यों रहते है।[3]

यहाँ पुरुषार्थों के सम्बन्ध में यह प्रश्न अतिमहत्त्वपूर्ण है और भीष्म पितामह का उत्तर इस सम्बन्ध में संक्षिप्त है तथा धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) और मोक्ष (चतुर्वर्ग) के अर्थ, अन्तर तथा सीमा को स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं–"संसार में जब मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है और वे धर्मपूर्वक किसी धर्म की प्राप्ति का निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण तथा कर्मानुष्ठानवश धर्म, अर्थ, काम एक साथ मिले प्रतीत होते हैं। इनमें धर्म सदा ही अर्थ की प्राप्ति का कारण और काम, अर्थ का फल कहलाता है, परन्तु तीनो का मूल कारण संकल्प है और

संकल्प विषय रूप है।" सम्पूर्ण विषय इन्द्रियोपभोग में आने के लिए है, यही धर्म, अर्थ, काम का मूल है। इससे निवृत्त होना ही मोक्ष कहा जाता है–

"विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते।।"

यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों के विषयों के उपभोग से निवृत्त होना या संकल्प से निवृत्त होना या बिना संकल्प या निष्कामता को ही मोक्ष कहा गया है। महाभारत में मङ्किगीता के प्रसंग में काम से मोक्ष तक का सुन्दर विवरण आता है।

मङ्कि ऋषि कहते हैं–"काम मैं तेरी जड़ को जानता हूँ। तू निश्चय ही संकल्प से उत्पन्न होता है। (वस्तुत: संकल्प का व्यवहार इच्छादि के मूल में है) अब मैं तेरा संकल्प नहीं करूंगा जिससे तू समूल नष्ट हो जाये।[५] तृष्णा, शोक, परिश्रम का स्थान तू (काम) ही है। तू बालक के समान मूढ़ है तथा आग और पाताल के समान तेरा पेट भरना असंभव है। इस समय काम और लोभ का त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ।"

मनुष्य जिस–जिस कामना को छोड़ देता है, उस–उस की ओर से सुखी हो जाता है। काम के वशीभूत हो, वह सर्वदा दु:ख ही पाता है[६], आगे इसी बुद्धि के आश्रय से मङ्कि ऋषि द्वारा परमानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई गई है–

"एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किनिर्वेदकमागत:।
सर्वान् कामान् परितज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम्।।"[७]

पुरुषार्थ में शरीर की रक्षा, जगत् संचालन के रूप में नियामक है। यह नियम धर्म से प्राप्त होता है, परन्तु धर्म के उपार्जन के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है। परन्तु क्या धर्म का मात्र धर्म के लिये ही अनुसंधान होना चाहिए? इस प्रश्न पर महाभारत के वन पर्व में भीम, युधिष्ठिर से कहते हैं– "जिसका धर्म, धर्म के लिये होता है वह धर्म के नाम पर क्लेश उठाने वाला बुद्धिमान् नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति केवल अर्थ संग्रह के लिये ही अत्यन्त इच्छा रखने वाला है और धर्म एवं काम का अनुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्म हत्यारे के समान घृणा/जुगुप्सा का पात्र है।" –

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति।
स वध्य: सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सा।।[८]

इसी प्रकार जो निरन्तर काम की ही अभिलाषा रखकर धर्म, अर्थ का सम्पादन नहीं करता वह धर्म और अर्थ दोनों से वंचित रह जाता है[९], जैसे पानी सूख जाने पर उसमें रहने वाली मछली की मृत्यु निश्चित है।

"सततं यश्च कामार्थी नेतरावनु तिष्ठति।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते।।"[10]

धर्म और अर्थ से ही काम की सिद्धि होती है। इस प्रकार महाभारत का स्वर है—धर्म, अर्थ *और काम तीनों को पृथक्—पृथक्* समझकर मनुष्य केवल धर्म, अर्थ या काम के ही सेवन में तत्पर न रहे, उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे कि इनमें विरोध न हो।

पुरुषार्थों में कब मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए तथा किस समय धर्म, अर्थ, काम रूपी त्रिवर्ग की वांछना करनी चाहिए इस महत्त्वपूर्ण विषय पर वनपर्व में स्पष्ट विवरण आता है। यहाँ यह कहा गया है– "निरतिशय सुख की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के लिये मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है। इसी प्रकार लौकिक सुख की इच्छा वाले के लिए धर्म, अर्थ कामरूप की प्राप्ति ही परम श्रेय है, जो इनके बीच में रहता है (अर्थात् जो दोनों के लिये प्रयास नहीं करता है) उसका जीवन आर्त्त मनुष्य की तरह होता है।"

तद् वाऽऽशुक्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम्।
जीवतं ह्यातुरस्येव दु:खमन्तरवर्तिन:।।[11]

उक्त सन्दर्भ से कहा जा सकता है कि त्रिवर्ग लौकिक सुख का आधार है परन्तु त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ तथा काम की स्थिति क्या है? क्या काम, अर्थ से अधिक व्यापक है या अर्थ, धर्म से अधिक आधारभूत है इनके निर्धारण में महाभारत में सबसे वृहद् पर्व शान्ति पर्व में एक स्थल पर अर्जुन, नकुल, सहदेव, अर्थ को अधिक आधारभूत बताते हैं और इसका कारण देते हैं कि अर्थ के बिना धर्म तथा काम भी सिद्ध नहीं होते, परन्तु भीम कहते हैं कि काम ही, अधिक व्यापक तथा आधारभूत है, क्योंकि जिसके मन में कोई कामना न हो उसे न तो धन कमाने की इच्छा होती है न धर्म करने की। कामनाहीनपुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता वस्तुत: काम ही त्रिवर्ग का सार है। काम, धर्म और अर्थ का कारक है। अत: वह धर्म और अर्थ रूप भी है।[12]

भीम के उक्त वचन से 'काम, पुरुषार्थ का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। परन्तु युधिष्ठिर आगे के विवरणों में यही कहते है कि सबसे पहले धर्म का अनुसरण करें फिर धर्म युक्त धन का संग्रह करे', इसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुये काम का सेवन करें। जो मनुष्य काम से धर्म और अर्थ को और अर्थ से धर्म और काम को तथा धर्म से अर्थ और काम को हानि न पहुंचाकर धर्म, अर्थ, काम तीनों का यथोचितरूप से सेवन करता है वह अत्यन्त सुख का भागी होता है।

"धर्मार्थौ धर्म कामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन्।
धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यनां सुखमश्नुते।।"

यद्यपि तीनों के सुबंध रूप में सेवन की बात कही गयी है, तथापि शांतिपर्व के अन्य स्थल

पर धर्म की अन्य पुरुषार्थ से श्रेष्ठता बतलाते हुये कहा गया है। धर्म में एक विलक्षण शक्ति यह है कि वह अर्थ और काम की तरह कभी व्यर्थ नहीं जाता , बिना फल दिये वह कभी क्षीण नहीं होता और उससे मनुष्य को सदा सुख मिलता है, किन्तु यह बात अर्थ एवं काम में नहीं है, इसलिये मनुष्य को अर्थ, काम की अपेक्षा धर्म में ही विशेष अनुराग रखना चाहिये–

"धर्म चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिन् लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते।।"[13]

महाभारत में धर्म, अर्थ, काम के सम्बन्ध में यह विशेष बात कही गयी है कि इनमें कोई भी मनुष्य कितना भी सम्पन्न क्यों न हो, फिर भी उसे अपने को त्रिवर्ग से परिपूर्ण होकर भी पुनः पुनः इनका अनुशीलन करना चाहिए क्योंकि सारे विश्व का निर्वाह इन पर टिका हुआ है–

"न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
एतष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता।।"[14]

यद्यपि महाभारत में त्रिवर्ग के सतत् सेवन की बात कही गयी है तथापि इनके सेवन में तीन प्रकार की बाधायें आती हैं। इन्हें मल रूप में या अशुद्धि रूप से इस प्रकार कहा गया है– "धार्मिक कार्यों में फल की इच्छा, धर्म का मल है, संग्रहीत करके रखना, अर्थ का मल है, आमोद–प्रमोद काम का मल है।[15] और इन दोषों का परिहार कर त्रिवर्ग का सेवन किया जाये तो शांति पर्व में इसे कल्याण कर कहा गया है। इस प्रकार महाभारत में धर्म, अर्थ, काम का उपार्जन उनके मल या अशुद्धि से रहित, परस्पर हानि न पहुँचाते हुये सेवन को समस्त लोक यात्रा के आधार भूत निरूपित किया गया है। साथ ही इनके अनवरत् अनुशीलन का निर्देश भी दिया गया है। इस विषय में शास्त्रों का यह विधान है कि दिन के पूर्व भाग में धर्म का, दूसरे भाग में अर्थ का और तीसरे भाग में काम का आचरण किया जाये"–

"धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत्।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः।।"[15]

वस्तुतः त्रिवर्ग का उद्देश्य लौकिक सुख की प्राप्ति है, जो दुःखों से रहित नहीं है। दुःखों का कारण कर्म, पुनर्जन्म आदि हैं। अतएव महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है, 'वैराग्य से ही निर्वाण पद प्राप्त होता है। उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्म पदार्थ का चिन्तन नहीं करता...संसार से वैराग्य होने पर सुख स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस ब्रह्म पद को पुनरावृत्ति रहित, एक अविनाशी, संज्ञारहित, दुःख शून्य अजर और शान्ताश्रय कहा गया है।"[16]

महाभारत में प्रायः धर्म पुरुषार्थ का ही विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया प्रतीत होता है। स्वयं युधिष्ठिर एक स्थल पर कहते हैं–"मैं जीवन और अमरत्व की अपेक्षा धर्म को ही बढ़कर समझता हूँ।"[17] महाभारत में राजा कुशीनर तथा बाज प्रसंग में, कपोत–बहेलिये प्रसंगादि में विशिष्ट धर्मों के आचरण एवं इन्हीं धर्मों को सराहा गया है। देखा भी जाये तो महाभारत का युद्ध, धर्म एवं

अधर्म के निर्णय के लिए ही हुआ। श्रीमद् भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन के किंकर्त्तव्यविमूढ़ होने पर धर्म अधर्म के निर्धारण के लिए ही भगवान् कृष्ण द्वारा किया गया। वस्तुत: सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी पग–पग पर कर्मों के धर्म–अधर्म, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, औचित्य–अनौचित्य के निर्धारण की समस्या आती है। इस सम्बन्ध में महाभारत में कहे गये श्लोकों में निहितार्थ सारगर्भित हैं, स्मरणीय भी हैं, साथ ही वे विभिन्न समस्याओं के समाधान पर गहरी अंतर्दृष्टि भी प्रस्तुत करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में महाभारत को पथ प्रदर्शक शास्त्र तथा वैश्विक ज्ञान की अमूल्य संचित निधि कहना अत्युक्ति न होगा।

सुशिम दुबे
शोध छात्र
(जे.आर.एफ. एण्ड नेट, यू.जी.सी.)
दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.) ४८२००१

सन्दर्भ संकेत

१. महाभारत (१.६२.५३), महाभारत (वेदव्यास प्रणीत), भाग १–६, (अनुवादक--रामनारायण दत्त शास्त्री) गीता प्रेस : गोरखपुर।

२. (शान्ति पर्व १.२३.१), ३. (शान्ति पर्व.१२३.२), ४. (शान्ति पर्व.१२३.५)

५. "काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूला न भविष्यति।।"–'मङ्कि गीता' महाभारत (शान्ति पर्व.१७७.२५)

६. यद् यत् त्यजति कामानां नत् सुखस्याभपूर्यते।
कामस्य वशगो नित्यं दु:खमेव प्रपद्यते।। – (शान्तिपर्व.१७७.४८)

७. (शान्तिपर्व.१७७.५३), ८. (वनपर्व.३३.२५), ९. (वनपर्व.३३.२६)

१०. मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम्।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन।। (वनपर्व.३३.४३)

११. (वनपर्व.३३.४४), १२. (शान्तिपर्व. १७४. ११–३८), १३. (शान्तिपर्व.९१.५२)

१४. (शान्तिपर्व.९२.१२–१३)

१५. अध्यानमलो धर्मो मूलाऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमल: कामो भूय: स्वगुणवर्जित:।। (शान्तिपर्व.१२३.१०) एवं (आदिपर्व.१३९.७०–७१)

१६. (वनपर्व.३३.३९–४०),

१७. ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम्।
अदु:खमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते।। (शान्तिपर्व.१९९.१२४)

१८. (वनपर्व.३४.२२)

मुद्राराक्षस में नैतिक कर्त्तव्य एवं भावनात्मक संघर्ष

देवी वाक् संस्कृत का अन्वाख्यान प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि सहस्रों मनीषियों कवियों के द्वारा होता रहा है, जो संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि को स्पष्ट करता है। इस भाषा में सर्जना की अजस्र धारा समस्त विधाओं में सतत् प्रवाहमान है, जो इसके जीवितत्व को प्रमाणित करते हैं। ये विधायें सामाजिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और राजनैतिकादि में से किसी एक को आधार बनाकर रची जाती हैं।

विशाखदत्त प्रणीत 'मुद्राराक्षस' संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों में से एक है। यह दूसरी बात है कि भारत में ही उसका अधोमूल्यन होता रहा है, इसका कारण यह है कि वह नाटक के सामान्यतः प्रचलित प्रतिमान के अनुरूप नहीं है, यह राजनैतिक वैदग्ध्य प्रयोग से परिपूर्ण है। इस नाटक ने राजनीति का परिधान अवश्य डाल रखा है किन्तु यह नैतिक कर्त्तव्यों एवं भावनात्मक संघर्षों से ओतप्रोत है। इसके पात्र एक ओर नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करते दिखलाई देते हैं, तो दूसरी ओर भावनात्मक संघर्षों से जूझते दृष्टिगोचर होते हैं।

'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में नैतिक कर्त्तव्यों के विवेचन के साथ–साथ, इसके पात्रों के हृदयों में भाव विचार भी स्पन्दित हुए हैं और उन भावनात्मक विभिन्न रूपों व कार्यकलापों को देखकर उसके भीतर अनुभूति का सागर लहरा उठा होगा और अन्दर छिपे भावनात्मक संघर्ष ने हलचल की होगी, वहीं से उत्पन्न हुई और फूट पड़ी होगी प्रतिशोध और द्वन्द्व की भावना। इसका जीता जागता उदाहरण है– 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक का नायक चाणक्य, वह क्रोधी स्वभाव का है। जब उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती अथवा कोई उसकी किसी योजना को विफल करने की चेष्टा करता है, तो उसके अन्तर्मन में उथल–पुथल मच जाती है और वह अपनी भावनाओं से जूझता प्रतीत होता है।

वह नन्द वंश को समूल नष्ट करने के लिए प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का अवतार है। उसके इसी स्वभाव का चित्रण नाटक के तृतीय अंक में किया है–

"शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः,
प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः।
प्रणाशान्नदानां प्रशममुपयातं त्वमधुना,
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम्।।"

इस नाटक का प्रमुख नायक चाणक्य, जिसे निःस्वार्थ और निरीह भावना से युक्त नैतिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए लोकभावना के रूप में चित्रित किया है–

" निरीहाणामीशस्तृणमिवतिरस्कारविषयः। "

चाणक्य चन्द्रगुप्त का गुरु है तथा साथ ही उसके राज्य का मन्त्री है, किन्तु सम्पूर्ण राजसी भोगविलासों को त्यजकर एक पृथक् कुटी में साधारण मनुष्य का जीवन–यापन करता हुआ अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है–अहो राजाधिराजमन्त्रिणो विभूतिः। तथाहि–

"उपलशकलामेतद् भेदकं गोमयानां,
बटुभिरूपहृतानां वर्हिणां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समद्भिः शुष्यमाणाभि–
र्विनिमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।।"

चाणक्य चन्द्रगुप्त के राज्य का मन्त्री है, इसी कारण वह उसे समय–समय पर उचित सलाह तो देता ही है साथ ही उसका मार्गदर्शक बनकर सही निर्णय एवं राय प्रदान करता है। चाणक्य कूटनीतिज्ञ अवश्य है पर वह अपने नैतिक कर्त्तव्यों की पालना अत्मसमर्पण करके भी करता है। देशरक्षार्थ वह कुछ भी करने को तत्पर है।

चाणक्य मन्त्रीत्व के कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ दिखलाई देता है तो चन्दनदास और राक्षस अपने–अपने सख्य कर्त्तव्यों का पालन करते दृष्टिगोचर होते हैं। चन्दनदास मणिकार श्रेष्ठी है और राक्षस नन्द वंश का अमात्य, पर उनकी मित्रता अटूट है। राक्षस के चरित्र में कुछ ऐसे गुण भी विद्यमान हैं, जो उसकी राजनीतिक बुद्धि की कठोरता की भूमि से पृथक् हृदय के कोमल तल पर खड़ा कर देते हैं। उसके हृदय के कोने में नैतिक कर्त्तव्यों की भावना प्रखररूप से सामने आती है। मित्र के प्राणों की रक्षा वह स्वयं को बन्धन में डालकर भी करता है।

इसी प्रकार चन्दनदास भी सबसे अधिक हृदय स्पर्श करने वाला पात्र है। इसका राक्षस के प्रति आकर्षण ओर प्रेम उतना ही गम्भीर और अटल है, जितना इन्दुशर्मन का चाणक्य के प्रति। वह अपने अभिन्न मित्र राक्षस के लिए मृत्यु को गले लगाने को शीघ्र ही तैयार हो जाता है तथा उसे एक मित्र के प्रति जिन कर्त्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए उससे पार दिखलाई पड़ता है।

राक्षस और चन्दनदास की अगाध प्रेम भावना देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन दोनों के शरीर अवश्य अलग–अलग है परन्तु उनकी आत्मा एक है अर्थात् वे दोनों एक प्राण दो शरीर हैं। राक्षस और चन्दनदास की जिस मैत्री भावना का कवि ने चित्रण किया है, वह भारतीय संस्कृति द्वारा प्रदत्त अपूर्व देन है। इन दोनों की मित्रता के विषय में नाटक के प्रथम अंक में ही चाणक्य ने कहा है–

"त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न क्रियाः।।"

अर्थात् जिस प्रकार राक्षस की आपत्ति के समय यह चन्दनदास सब प्राणों को अप्रिय वस्तु के समान छोड़ रहा है, उसी प्रकार इस चन्दनदास की आपत्ति में राक्षस को भी अपने प्राण प्रिय

नहीं होंगे ऐसा मेरा मत है।

राक्षस स्वयं में और चन्दनदास में कोई भेद नहीं मानता। सप्तम अंक में जब चाणक्य राक्षस से कहता है कि यदि चन्दनदास का जीवन चाहते हो तो शस्त्र ग्रहण करो तब वह कहता है–

"विष्णुगुप्त नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुछत्स्नेहाय। का गतिः। एवः प्रह्वोऽस्मि।"

स्व मित्र के प्राण रक्षार्थ, अपने उद्देश्य को जिसके लिए उसने जीवन पर्यन्त संघर्ष किया–तिलाञ्जलि देकर आत्मसमर्पण कर देता, सचमुच इस कसौटी पर राक्षस महान् है। इन दोनों की मित्रता आज भी मित्रों के लिए प्रेरक प्रसंग बनी हुई है।

राक्षस नन्दवंश का अमात्य है, वह भावुक आत्मा वाला है तथा उद्देश्य के प्रति सर्वथा निराश है। वह अतीतकाल की स्मृतियों में इतना अधिक डूब जाता है कि स्वयं को कुसुमपुर के जीर्णोद्यान में पाता है। इसके चरित्र में एक ओर आशा–निराशा, घात–प्रतिघात आदि द्वन्द्व चित्रित होते हैं तो दूसरी ओर चाणक्य से प्रतिशोध लेने की अभिलाषा उसकी भावनाओं से प्रतिद्वन्द्व करती दृष्टिगोचर होती है।

नाटक के षष्ठम् अंक में राक्षस के चरित्र का समीप से अध्ययन करने पर उसका मानसिक ऊहापोह का संघर्ष रूपी चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

इसी प्रकार चन्दनदास जो कि राक्षस का अभिन्न मित्र है। अपने मित्र के परिवार की रक्षा के लिए चिन्तित है तथा अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने हेतु भाव–विह्वल हो जाता है।

मुद्राराक्षस नामक नाटक में चन्द्रगुप्त के चरित्र का विकास उस रूप में नहीं हुआ, जिस रूप में एक मौर्य सम्राट् का होना चाहिये। यद्यपि यत्र–तत्र वह नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करता दृष्टिगोचर होता है। चाणक्य उसका गुरु है तथा उसके राज्य का मन्त्री भी है फिर भी वह चाणक्य को गुरु का सम्मान देता है और गुरु की आज्ञा का पालन कर अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है। चन्द्रगुप्त एक योग्य और विचारशील शासक है तथा स्व कर्त्तव्यों का उत्साहपूर्वक निर्वाह भी करता है। कञ्चुकी नाटक के तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त के गुणों का वर्णन इस प्रकार करता है–

सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता,
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो यस्य गुरुणा।
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो,
मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति च न दुःखं वहति च।।

अर्थात् वह मनस्वी है, दम्य है। राज्य भार वहन करने को सदैव तत्पर रहता है। वह नवयौवन से युक्त होने पर भी लोकव्यवहार को जानने वाला है– **"अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम्।"**

उसके राज्य में किसी प्रकार के छल–कपट के लिए अवसर नहीं है। जो व्यक्ति उसके

राज्य में विद्रोह एवं आतंक को उत्पन्न करते हैं, उनको कठोर से कठोर दण्ड से दण्डित करता है– **"एवमपायकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा।"**

एक गुरु के प्रति जो कर्त्तव्य होने चाहिए, उनका निर्वाह तो चन्द्रगुप्त ने यत्र–तत्र किया है परन्तु एक राजा के कर्त्तव्य होने चाहिए उनका पालन वह पूर्ण रूप से नहीं कर सका है। वह अपने गुरु चाणक्य के संरक्षण में है। वह राज्य का उत्तरदायित्व लेने को भी तैयार नहीं है और चाणक्य पर इतना अधिक निर्भर है कि किसी भी कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने में सर्वथा असमर्थ है। राक्षस की चन्द्रगुप्त के विषय में यह उक्ति– **"चन्द्रगुप्त दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्ष लोकव्यवहार: कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थ: स्यात्।"**

चन्द्रगुप्त के लिए राज्य भोगविलास के लिए है कर्त्तव्य पालन के लिए नहीं। चाणक्य उस सनिवायत्तसिद्धि कहकर इसकी पुष्टि करता है।

राज्य के विषय में चन्द्रगुप्त का विचार है कि– **"राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्।"** अर्थात् यदि कोई राजा राज्यधर्मो का पालन करता है तो राज्य उसके लिए सुख के स्थान पर दु:ख की सृष्टि करने वाला है। अत: हम देखते है कि चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट् के रूप में नैतिक कर्त्तव्यों के प्रति निष्क्रिय सा प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त चाणक्य का शिष्य है, उसे चाणक्य पर अटूट विश्वास भी है, किन्तु जब चाणक्य कौमुदी महोत्सव का निषेध करता है तब चन्द्रगुप्त के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व उठता है कि मैं राजा हूँ, अत: मैं जो कहूँ, वही होना चाहिये, इसकी पुष्टि तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त की इस उक्ति द्वारा होती है– **"अत: प्रभृत्यनादृत्य चाणक्यं चन्द्रगुप्त: स्वयमेव राज्यं करिष्यतीति गृहीतार्था: क्रियन्तां प्रकृत्य:।"**

कञ्चुकी भी इसी बात को इस प्रकार से व्यक्त करता है–

"स दोष: सचिवस्यैव यदसत्कुरुते नृप।
याति यन्तु: प्रमादेन गजो व्यालत्ववाच्यताम्।।"

बाद में वह विचार करता है कि चाणक्य मेरा गुरु है। अत: मुझे इस प्रकार नहीं सोचना चाहिए तब वह भाव–विभोर होकर भावनाओं से संघर्ष करता है और अन्त में उसे ग्लानि होती है और वह कह उठता है–

"आर्याज्ञयैव मम लङ्घितगौरवस्य
बुद्धि: प्रवेष्टुमिव भूविवरं प्रवृत्ता।
ये सत्यमेव हि गुरुनतिपातयन्ति
तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा।।"

चाणक्य, राक्षस और चन्दनदास के अतिरिक्त चाणक्य के प्रमुख गुप्तचर भागुरायण और

सिद्धार्थक तथा राक्षस के गुप्तचर विराधगुप्त और शकटदास भी अन्य गौण पात्र है, जो अपने नैतिक कर्त्तव्यों के पालन में तनिक भी नहीं चूकते। चाणक्य की आज्ञा पालन अपना परम कर्त्तव्य समझते है तथा साथ ही चाणक्य को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। चाणक्य द्वारा प्रदत्त निर्देश इनके लिए पत्थर की लकीर के समान है। किसी को भी कष्ट पहुँचाना या धोखा देना इन्हें पसन्द नहीं, किन्तु कर्त्तव्य पालन हेतु बुरे कार्य कर उनका पश्चाताप करते हैं। राजवंशी होने के कारण इनको अपने स्वाभिमान का सदैव ध्यान रहता है तथापि चाणक्य की महत्त्वाकांक्षाओं को अपना सर्वस्व मानकर उसकी भावनाओं की इज्जत करते हैं। भागुरायण और सिद्धार्थक दोनों ही अपने लक्ष्य का ईमानदारी, विश्वास तथा कर्त्तव्य के साथ निर्वाह करते हैं। सिद्धार्थक की निम्न उक्ति उसके आज्ञापालन को सूचित करती है– **"वयस्य, को जीवलोके जीवितुकाम आर्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं प्रतिकूलयति। तदेहि! चाण्डालवेषधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयाव:।"**

अत: दोनों ही स्व–स्वकार्य में निपुण हैं। न तो भागुरायण सिद्धार्थक के कार्य को करता है और न ही सिद्धार्थक भागुरायण के कार्य को करता है। यद्यपि दोनों ही कर्त्तव्य–पालन में नितान्त कुशल है।

नाटक में विराधगुप्त और शकटदास दोनों राक्षस के गुप्तचर के रूप में चित्रित हुए हैं। दोनों ही राक्षस के प्रति अगाध प्रेम–भावना के कारण स्व–स्व कार्य में प्रवृत्त होते हैं और उनकी हार्दिक अभिलाषा है कि राक्षस के लिए अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए उसके लिए कुछ कार्य करें। ये दोनों ही अपने राक्षस के लिए आत्मसमर्पण करने को भी तत्पर हैं।

इनके अतिरिक्त एक और चरित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ है। यह विवेकशून्य और अविवेकी है तथा मनुष्यों की पहचान उसे जरा भी नहीं हैं। यह अपरिपक्व बुद्धि वाला अयोग्य और अहंकारी युवक है। मलयकेतु अपने नैतिक मूल्यों के प्रति नितान्त उदासीन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक में सभी पात्रों ने अपने–अपने पद पर आसीन रहकर उन्हें जिन कर्त्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए उस पर खरे उतरें हैं। कुछ पात्र ऐसे भी हैं, जो अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन रहें हैं।

मलयकेतु पवर्तक का पुत्र है, जब उसे यह ज्ञात होता है कि उसके पिता की मृत्यु में चाणक्य का हाथ है तो उसकी भावनाएँ प्रतिशोध लेने के लिए जागरूक हो जाती है, किन्तु जब क्षपणक द्वारा उसे यह पता चलता है कि उसके पिता की हत्या चाणक्य ने नहीं राक्षस ने की है तब राक्षस प्रति आक्रोश की चरम परिणति इस रूप में व्यक्त हुई है–

"मित्रं ममेदमिति निवृत्तचित्त वृत्तिं
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशित सर्वकार्यम्।
तातं निपातय सह बन्धुजनश्रुतोयै,
स्वर्थतोऽपि ननु राक्षस राक्षसोऽपि।।"

भावनात्मक क्रोध से अन्धा होकर वह राक्षस से कहता है–

"विष्णुगुप्तं च मौर्यं च सममप्यागतौ त्वया।
उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः।।"

नाटक में अन्य गौण पात्र विराधगुप्त, शकटदास, भागुरायण और सिद्धार्थक हैं। ये सभी पात्र नैतिक कर्त्तव्यों में तो नितान्त कुशल है पर भावनात्मक संघर्षों के प्रति एकदम उदासीन है।

निष्कर्षतः हम कह सकते **हैं** कि विशाखदत्त प्रणीत "मुद्राराक्षस" नामक नाटक रूपी धारा अबाध गति से प्रवाहित हुई है। इसके पात्र कहीं नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करते दृष्टिगोचर होते हैं तो कहीं पात्र अपनी भावनाओं से संघर्ष करते दृष्टिगत होते हैं। ये नैतिक कर्त्तव्य सहृदयों प्रेक्षकों को वास्तविक कर्त्तव्य भावना के लिए झकझोरतें हैं। यहाँ अमात्य का राजा के प्रति कर्त्तव्य राजा का अमात्य के प्रति, अमात्य का गुप्तचर के प्रति एवं गुप्तचर का अमात्य के प्रति, मित्र का परस्पर मित्र के प्रति कर्त्तव्य की भावना अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर गयी है। यदि राम अपने पिता के वचन–पालन को सर्वश्रेष्ठ नैतिक कर्त्तव्य मानते हैं, यदि रामायण आदर्श है, तो विशाखदत्त की नाट्यकृति से हम लोगों को प्रेरणा लेनी चाहिये। अपने आदर्शों की अक्षुण्णता में इसके पात्र ने समष्टि के कल्याण में कभी भी स्वयं का ध्यान नहीं रखा। अपना सर्वस्व न्यौछावर किया है, अपने कर्त्तव्यों के पालन में, भावना के प्रवाह में अपना वाङ्मय उपदेश देता है– **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्।"** हमारे आदर्श ग्रन्थ गीता में भी **"कर्मण्येवाधिकारस्ते"** कहकर कर्म की महत्ता को प्रतिपादित किया है तो लोकहित और कुल की रक्षा के लिए व्यक्ति को त्यागभावना से युक्त होना चाहिये–

"त्यजरेदं कुलस्यार्थे
लोकहितं मम करणीयम्।"

आदर्श नैतिक कर्त्तव्य और भावनात्मक धर्म के लिए प्रसिद्ध अपना भारतदेश तभी तो आध्यात्मिक गुरु के सर्वश्रेष्ठ पद पर आसीन है।

"भारतं भा–रतं भवतु भा–रतम्।।"

डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा
२९५, बिनोबा विहार,
त्रिमूर्ति अपार्टमैन्ट के पीछे
मालवीय नगर, जयपुर (राजस्थान)
जयपुर–१७

ध्वनि प्रदूषण : वैदिक समाधान

ध्वनि कानों द्वारा ग्रहण की गयी तथा मस्तिष्क तक पहुंचायी गयी एक संवेदना है। यह किसी वस्तु के कम्पन द्वारा होती है। ध्वनि के दो गुण महत्त्वपूर्ण हैं– १. तारत्व अथवा 'पिच' और २. तीव्रता अथवा प्रबलता।

तारत्व का सम्बनध ध्वनि की कम्पन दर से है। इसे हर्ट्ज में नापा जाता है। तीव्रता डेसीबल में मापी जाती है। तीव्रता के अनुसार ध्वनि तीन प्रकार की हो सकती है– प्रथम–हल्की अर्थात् मात्र सुनने योग्य, द्वितीय– मध्यम अर्थात् शान्त, मधुर और कर्णप्रिय, तृतीय–तीव्र अर्थात् शोरगुल युक्त।

ध्वनि का पर्याय है वाक् अथवा नाद। जहाँ तक ब्रह्म तत्त्व व्याप्त है वहाँ तक वाक् तत्त्व का विस्तार है–यावत् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।[1] इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड वाक् तत्त्व का ही विराट् रूप है।[2] अथर्ववेद में वाक् तत्त्व को परमेष्ठी प्रजापति के स्वरूप में प्रतिष्ठित बताया गया है। उसी से घोर एवं शान्त अर्थात् आसुरी एवं दैवी समस्त जगत् की सृष्टि होती है।[3]

सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ वाक् से हुआ है। वाक् सब भुवनों अथवा प्राणियों को कार्य रूप में उत्पन्न करती हुई वायु के समान प्रवृत्त होती है तथा महत्ता के कारण द्युलोक और पृथ्वी से परे विद्यमान है।[4]

ऋग्वेद के अनुसार वाक् के चार स्तर हैं– परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वाक् के इन चार स्तरों का ज्ञान केवल प्रबुद्ध मनीषियों को होता है। सामान्य जन वाक् के तीन स्तरों को नहीं जानते क्योंकि वह उनकी दृष्टि में छिपी हुई है। वे केवल चतुर्थ अर्थात् वैखरी वाणी को बोलते हैं।[5] पञ्चतत्त्वों में सबसे पहले आकाश बना। आकाश की तन्मात्रा शब्द अथवा नाद है। यह सारा जगत् नादात्मक एवं ब्रह्मस्वरूप है। इस दृष्टि से नाद दो प्रकार का होता है–१. अनाहत नाद और २. आहत नाद।

बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियाँ निनादित होती हैं उसे अनाहत नाद की संज्ञा दी गयी है। यह नाद ओंकार स्वरूप है, जिसे मनीषियों ने ब्रह्म भी कहा है। जिस प्रकार यह नाद गुप्त रूप से समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है उसी प्रकार प्राणियों के शरीर में भी व्याप्त है। यह बिना किसी आघात के स्वयं बजने वाला नाद है जिसका सम्बन्ध कुंडलिनी तथा सुषुम्ना नाड़ी से है।

नाद का दूसरा रूप आहत नाद है। इसकी उत्पत्ति आघात और रगड़ से होती है। इस संसार का समस्त व्यापार इसी नाद पर आधारित है।

आहत नाद को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–प्रथम–संगीतमय अथवा कर्णप्रिय ध्वनि और द्वितीय शोर। संगीतमय ध्वनि में कम्पन सामयिक तथा आवर्तित होते हैं जबकि शोर में कम्पन असामयिक एवं अनावर्तित होते हैं।

ध्वनि मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं तथा जड़ पदार्थों को प्रतिकूलतया प्रभावित करने पर शोर अथवा ध्वनि प्रदूषण बन जाती है। जो ध्वनि एक व्यक्ति के लिये मधुर संगीत है वही ध्वनि दूसरे व्यक्ति के लिये अवांछित होकर शोर बन सकती है। इसी कारण से शोर को 'अदृश्य प्रदूषण' कहा गया है। ध्वनि प्रदूषण के स्रोतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–प्रथम–प्रकृति स्रोत–जिसमें बादलों की गड़गड़ाहट, तूफानी हवाएं व वन्य जीवों की आवाज आदि सम्मिलित है। प्राकृतिक स्रोतों से उत्पन्न शोर प्राय: अस्थायी तथा यदा–कदा होता है, अत: इसका प्रभाव अस्थायी ही होता है। द्वितीय–कृत्रिम स्रोत–वर्तमान के वैज्ञानिक तकनीकी और औद्योगिकीकरण के युग में नगरीकरण के साथ–साथ सुख–सुविधा के अनेक उपकरण और साधन हमारे पर्यावरण में ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख कारण बन गए हैं। इनमें उद्योग–धंधे, मशीनें, स्थल और वायु परिवहन के साधन, मनोरंजन के साधन और आतिशबाजी प्रमुख हैं।

विशेषज्ञों के अनुसार एक मनुष्य का अपनी स्वाभाविक निद्रा में ३० डेसीबल तक तथा जागृत अवस्था में ६० से ७० डेसीबल का शोर सहना उसकी शक्ति के अनुकूल है। व्यस्त शहरी क्षेत्रों में रहने वाले आज के नागरिकों को सामान्यत: ७० से ८० डेसीबल तक शोर के बीच में रहना पड़ता है। विशेष वातावरण और परिस्थितियों में इस शोर की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। १३० से अधिक डेसीबल के वातावरण में लम्बे समय तक रहने से बहरापन, पागलपन, रक्तचाप और हृदयरोग आदि अनेक बीमारियां होने की आशंका रहती है। १५० डेसीबल की ध्वनि त्वचा को जला सकती है। १८० डेसीबल की ध्वनि से मनुष्य की मृत्यु हो सकती है।

भारत के कई महानगर ध्वनि प्रदूषित नगर हैं। विश्व में सर्वाधिक ध्वनि प्रदूषण का शहर 'रियो डी जिनेरियो' है, यहाँ ध्वनि का स्तर १२० डेसीबल है। चिकित्सकों के मतानुसार आजकल स्नायुरोग के हर तीन में से एक का कारण शोर होता है। मानसिक अवसाद से बचने के लिये वर्तमान पीढ़ी में नशीली वस्तुओं तथा नींद की गोलियों के प्रति जो रूचि बढ़ रही है उसका उत्तरदायित्व भी मुख्यत: शोर पर ही है। अमरीका के डाक्टर सैम्युअल रोजन का कहना है कि जैसे ही एक कर्कश आवाज कानों से टकराती है, हृदय की स्पन्दन गति बढ़ जाती है, रक्त कोशिकाएं संकुचित हो जाती हैं और आंतों की क्रियाशीलता कम हो जाती है। जर्मनी के म्यूनिख

विश्वविद्यालय के प्राध्यापक जार्ज शिमट्े का कहना है कि आज के युग में होने वाली मृत्युओं में लगभग ५० प्रतिशत के लिये शोर भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। लगभग एक शताब्दी पूर्व नोबेल पुरस्कार विजेता तथा जीवाणु वैज्ञानिक राबर्ट कारव ने यह भविष्यवाणी की थी कि एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य को स्वास्थ्य के सबसे बुरे शत्रु के रूप में 'क्रूर शोर' के साथ संघर्ष करना पड़ेगा। शहरी और औद्योगिक वातावरण में बढ़ते हुए आज के शोरगुल को देखकर लगता है कि वह दिन उपस्थित हो गया है। इस समस्या के समाधान में वैदिक चिन्तन उपादेय है। ध्वनि प्रदूषण के संघातक प्रभाव से बचने के लिये वेदों में मंत्र, संगीत, मधुरवाणी, मौन और शान्ति पर बल दिया गया है। इन उपायों से हम ध्वनि प्रदूषण के वर्तमान कृत्रिम स्रोतों पर नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं। मंत्र में ध्वनियां होती हैं तथा ध्वनि समूहों का ही नाम मंत्र है। भावना विशेष से भावित मंत्र ध्वनि की सूक्ष्म झन्कार प्रति सेकण्ड लगभग १० लाख चक्रों की रफ्तार से ध्वनि तरंगें नि:सृत करती है, जिससे उनमे उष्मा उत्पन्न होती है। मंत्र शब्द शक्ति का उच्चस्तरीय उपयोग है जिससे इलेक्ट्रोमैग्नेटिक लहरें उत्पन्न होती हैं, जो स्नायुतंत्र पर वांछित प्रभाव डालकर उनकी सक्रियता ही नहीं बढ़ाती वरन् विकृत चिन्तन तथा मनोविकारों को रोकती है। ज्युरिख के डा. हंस जैनी ने ध्वनि तरंगें कैसे पदार्थ को प्रभावित करती है, इस समस्या का विशेष अध्ययन किया है। Cymatics नाम की इस अध्ययन प्रक्रिया में उन्होंने इस बात की खोज की है कि ओम् जैसे विशिष्ट शब्दों और मंत्रों का बार—बार जाप करने से किस प्रकार व्यक्ति का तनाव शिथिल होता है और कैसे विश्रान्ति तथा आनन्द की अनुभूति होती है।

संगीत जड़—चेतन दोनों पर अनुकूल प्रभाव डालता है। अमरीका के डा. हर्चिसन ने विविध प्रकार की संगीत ध्वनियों की सहायता से अनेक असाध्य रोगों की सफल चिकित्सा की है। मैसूर के संगीत चिकित्सक गणपति सच्चिदानन्द ने अलग—अलग रागों और वाद्यों से अलग—अलग रोगियों को स्वस्थ किया है। आज साउण्ड थेरेपी एक नयी उपचार पद्धति के रूप में विकसित हुई है।

संगीत के दिव्य प्रभाव के कारण वैदिक मंत्रों के सस्वर पाठ की परम्परा ऋषियों ने डाली। शक्तिसम्पन्न उच्चारणों से पत्थरों को फोड़ने[७] व शरीरस्थ घोर तत्त्वों[८] अर्थात् रोगों को दूर करने का वर्णन वेदों में मिलता है।

आधुनिक वैज्ञानिक पशु—पक्षियों, जलचरों और पेड़—पौधों की क्षमता विकसित करने में लयबद्ध ध्वनि प्रवाह का प्रयोग करने लगे हैं, जिसके अनुकूल परिणाम प्राप्त हुए हैं। वेदों में तेज ध्वनि को मृत्यु का कारण बताया गया है। ऋग्वेद के अनुसार बादलों की कड़क से कई प्रकार के छोटे—छोटे कीड़े मर जाया करते हैं।[९] युद्ध में दुन्दुभि, नगाड़े और बाजों का उपयोग ध्वनि द्वारा शत्रुदल में भय उत्पन्न करने के लिये किया जाता था।[१०] ध्वनि प्रदूषण से होने वाली हानियों से

बचने के लिये वैदिक वाङ्मय में जीवन का तीन—चौथाई हिस्सा अरण्य के शान्त वातावरण में व्यतीत करने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। वाणी का असम्यक् व कटु प्रयोग विद्वेषों व संघर्षो को बढ़ाता हुआ ध्वनि प्रदूषण का विस्तार करता है, अत: अथर्ववेद में मानव को जिह्वा से मधुर बोलने का निर्देश दिया गया है। उसके कार्य भी मधुर होने चाहिए, जिससे चित्त में मधुरता बनी रहे।[११] पत्नी पति से मधुर और शान्तिदायक वाणी बोले।[१२] सभी मानव एक मतवाले और एक कर्म करने वाले होकर उत्तम नीति से वाणी बोलें। [१३] इस प्रकार वर्तमान ध्वनि प्रदूषण के समाधान में वेदोक्त समाधान प्रासंगिक हैं।

सुश्री नन्दिता सिंघवी
व्याख्याता, संस्कृत
महिला जागृति परिषद् स्कूल के समीप
B 218 A, सार्दूलगञ्ज, बीकानेर (राजस्थान)
—३३४००३

सन्दर्भ संकेत

१. ऋग्वेद १.१६४.१०, १०.११४.८
२. वाग्वै विराट्— शतपथ ब्राह्मण ३.५.१
३. इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
यथैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु न:।। अथर्ववेद १९.९.३
४. वही ४.३०.८
५. ऋग्वेद १.१६४.४५
६. उद्धृत— ध्वनि प्रदूषण : डॉ. डी.डी. ओझा पृ. ३६
७. ऋग्वेद ४.१६.६
८. अथर्ववेद १.१८.३
९. ऋग्वेद १०.२०.५ — यो वाचा मृध्रवाच: ....शव:।।
१०. वही १०.१०३ अथर्ववेद ५.२०, ५.२१
११. अथर्ववेद १.३४.२
१२. वही ३.३०.२
१३. वही १.३४.३

महाकवि कालिदास के काव्य में पर्यावरण चेतना

पर्यावरण शब्द परि+आवरण से बना है, जिसका अभिप्राय है चारों ओर से घेरना। संस्कृत में इसके लिए पर्यावृत्ति और परिवेष्टन शब्दों का प्रयोग मिलता है। पर्यावरण का सामान्य अर्थ भौतिक परिवेश से है, जो पृथ्वी के जीव जगत् को चारों ओर से घेरे हुए है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण जगत् का जीवन एक आवरण से आवृत्त है जो इसे संचालित और प्रभावित करता है। यह शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित है। पंच तत्त्वों के अन्तर्गत भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश आते हैं। भू तत्त्व से अन्न, भोज्य सामग्री तथा वृक्ष वनस्पतियाँ प्राप्त होती हैं। जल तत्त्व से जीवनी शक्ति मिलती है। अग्नि तत्त्व से ताप, उष्मा और गति प्राप्त होती है। वायु तत्त्व से प्राण शक्ति मिलती है। आकाश तत्त्व, ध्वनि तरंगों, शब्द शक्ति और संवेदना का स्रोत है। ये पांचों तत्त्व जगत् को प्रभावित करते हैं। इनका संतुलन जीवन के स्रोत को प्रभावित करता है। पर्यावरण के इस संतुलन पर ही हमारा जीवन निर्भर करता है।

वैदिक काल से ही पर्यावरण के प्रति संचेतना दिखायी पड़ती है। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि जल, वायु और ओषधियों अर्थात् वनस्पतियों से यह भूमण्डल घिरा हुआ है। ये मानवमात्र को प्रसन्नता देते हैं। अत: इन्हें छन्दस् या आह्लादक कहते हैं–

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे,
पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधय:
तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि।।

अथर्ववेद १८/१/१७

वेदों ने 'माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या:' कहकर भूमि का माता के तुल्य संरक्षण करने का उपदेश दिया है। यजुर्वेद के शान्तिपाठ में तीनों लोकों जल, वनस्पति, ओषधि तथा सभी देवों की शान्ति के लिए प्रार्थना की गयी है। यह प्रार्थना विश्व में शान्ति बनाए रखने के सन्देश के साथ पर्यावरण के प्रति भी एक सन्देश है। बढ़ते प्रदूषण से जब मनुष्य जीव, वृक्ष, वनस्पति, जल, वायु अछूते नहीं हैं, ऐसे में शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है।

ओं द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्ति:
पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:।
वनस्पतय: शान्तिर्विश्वेदेवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति:
सर्वꣳशान्ति: शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तिरेधि।।

यजुर्वेद में चर—अचर सबको मित्र की दृष्टि से देखने का सन्देश है—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष्ये।

जब पर्यावरण के तत्त्वों के प्रति मित्रता का भाव होगा, तभी पर्यावरण सन्तुलन सुरक्षित रहेगा।

पुराणों में भी पर्यावरण के प्रति चेतना प्राप्त होती है। पुराणों में जल को स्वच्छ रखने तथा नदियों के जल की स्वच्छता का ध्यान रखने के लिए सन्देश प्राप्त होता है। पद्म पुराण के आठवें अध्याय में कहा गया है कि गंगा के किनारे मलमूत्र न करे, जो ऐसा पाप करता है, उसका सहस्रों योनियों में भी उद्धार नहीं हो सकता । जो गंगा के जल में या उसके किनारे थूकता है, दूषित जल डालता है, उच्छिष्ट वस्तु डालता है, ऐसा व्यक्ति नरक में जाता है और उस पर ब्रह्म हत्या का दोष चढ़ता है। जो गंगा के जल में किसी भी प्रकार का कोई पाप करता है, वह पाप अमिट होता है और किसी तीर्थ में स्नान करने से वह पाप दूर नहीं होता है।

मूत्रं वाऽथ पुरीषं वा गङ्गातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य कल्प कोटि शतैरपि।।
श्लेष्माणं वाऽपि निष्ठीवं दूषिकाम्वाऽश्रुवा मलम्।
गङ्गातीरे त्यजेद्यस्तु स नूनं नारकी भवेत्।
उच्छिष्टं कफकञ्चैव गङ्गागर्भेच यस्त्यजेत।
स याति नरकं घोरं ब्रह्म हत्यां च विन्दति।।

पद्म पुराण ७ क्रियायोग ८.८—१०

सृष्टि के संरक्षण के प्रति संस्कृत के कवियों में स्पष्ट चेतना दिखायी पड़ती है। महाकवि कालिदास के काव्यों में पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। महाकवि कालिदास कुमारसम्भव में ब्रह्मा के मुख से कहलाते हैं कि मेरा काम तो केवल संसार की सृष्टि करना ही है, उसकी रक्षा करना तो तुम्हीं लोगों के हाथ में है।

मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता।। कुमारसम्भव २.२८

महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम श्लोक में सृष्टि के तत्त्वों को शिव रूप प्रदान कर उनकी उपासना के द्वारा उनके संरक्षण का भी उपदेश दिया है।

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.१

जो विधाता की सर्वप्रथम सृष्टि है अर्थात् जलरूपमूर्ति, जो विधिपूर्वक हवन की गई हवि को देवताओं के पास ले जाती है अर्थात् अग्निरूपमूर्ति, जो होता है अर्थात् यजमानरूपमूर्ति, जो दो समय का निर्माण करती है अर्थात् सूर्य और चन्द्ररूपी मूर्तियां, जो दिन और रात्रि को बनाती हैं, शब्द जिसका गुण है और जो विश्व में व्याप्त होकर विद्यमान है अर्थात् आकाशरूपमूर्ति, जिसको विद्वान् समस्त बीजों का कारण कहते हैं अर्थात् पृथ्वी रूप मूर्ति उन प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों से युक्त ईश्वर (शिव) आप लोगों की रक्षा करें। महाकवि कालिदास ने सृष्टि के समस्त आवश्यक तत्त्वों को शिव रूप प्रदान कर न केवल उनके महत्त्व को बताया अपितु उनके संरक्षण का भी उपदेश दिया।

वायु :— वायु समस्त जीवधारियों के लिए आवश्यक है। पृथ्वी पर जीवन वायु के ऑक्सीजन पर आधारित है। समस्त जीव श्वास के रूप में ऑक्सीजन लेते हैं तथा कार्बनडाईऑक्साइड बाहर निकालते हैं। पेड़, पौधे कार्बनडाईऑक्साइड को लेकर भोजन बनाते हैं और ऑक्सीजन बाहर निकालते हैं। इस प्रकार ऑक्सीजन और कार्बनडाईऑक्साइड का सन्तुलन बना रहता है। वनों के कटने से कार्बनडाईऑक्साइड की मात्रा वायु में बढ़ रही है। इससे पृथ्वी के तापमान में वृद्धि हो रही है। इसको नियंत्रित करने के लिए आवश्यक है कि ४० प्रतिशत भू भाग पर वृक्ष वनस्पतियाँ हों। महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में वृक्ष वनस्पतियों के संरक्षण के लिए अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। मेघदूत पूर्वमेघ में कालिदास ने वनों को अग्नि से होने वाली क्षति को ध्यान में रखकर मेघ से कहा है कि यदि हिमालय के वनों में अग्नि दिखायी दे तो उसे तुम अच्छी तरह बुझा देना।

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा,
बाधेतोल्काक्षपितचमरी बालभारो दवाग्नि:।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारा सहस्रै—
रापन्नार्तिप्रशमन्फला संपदो ह्युत्तमानाम्।।

पूर्वमेघ ५३

महाकवि कालिदास ने आम्रकूट नामक पर्वत पर मूसलाधार वर्षा से वनाग्नि को बुझाने का निर्देश मेघ को दिया है—

त्वामासार प्रशमित वनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना,
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूट:।

उत्तरमेघ में वृक्ष को पुत्र के समान पाला गया कहा है।

यस्योपान्ते कृतक तनय: कान्तया वर्धितो मे,
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्ष:।।

उत्तरमेघ १२

महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भवम् में पार्वती का वृक्षों के प्रति वात्सल्य प्रेम पुत्र से भी बढ़कर प्रदर्शित किया है। पार्वती ने छोटे—छोटे पौधों को लगाकर घड़ों से जल पिला—पिलाकर बड़ा बनाया अत: इन पौधों के प्रति पार्वती के वात्सल्य भाव को बाद में पैदा होने वाले कुमारस्कन्द भी दूर न कर सके। अर्थात् पुत्र प्राप्ति के बाद भी पार्वती का वृक्षों के प्रति पुत्रवत् वात्सल्य का भाव बना हुआ था।

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्र वात्सल्यमपाकरिष्यति।।

कुमार. ५/१४

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वृक्षों के संरक्षण के द्वारा पर्यावरण के प्रति चेतना प्रदर्शित करने वाले अनेक उदाहरण मिलते हैं।

महाकवि कालिदास ने वृक्षों के परिवर्धन के लिए वृक्षों को सींचना, वृक्षों को पानी देना दैनिक कर्मों में एक आवश्यक कर्म बताया है। आश्रम की कन्याएं अपनी अवस्था के अनुरूप घड़ों से वृक्षों को जल दे रही हैं—

राजा—एतास्तपस्विकन्यका: स्वप्रमाणानुरूपै: सेचनघटै: बालपादपेभ्य: पयोदातुमित एवाभिवर्तन्त। अभि. १ वा. ४५

प्रियंवदा शकुन्तला से कहती है तू दो वृक्ष सींचने की मेरी ऋणी है। इधर आ। अपने आपको ऋण से छुड़ा तब तू जा सकती है—

प्रियंवदा— वृक्ष सेचने द्वे धारयसि मे। एहि तावत्। आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि। अभि. १ वा ११९

शकुन्तला के पिता कण्व को पुत्री से अधिक प्रिय आश्रम के वृक्ष हैं। अनसूया शकुन्तला से कहती है— "सखि शकुन्तला पिता कण्व को ये आश्रम के वृक्ष तुझसे अधिक प्रिय हैं।"

अनुसूया—-हला शकुन्तले, तवत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षका: प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिकाकुसुमपेलवाऽपि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।

अभि. १ वा ४७

महाकवि कालिदास शकुन्तला से कहलाते हैं कि वृक्षों पर मेरा सगे भाई के तुल्य प्रेम है, केवल पिता की आज्ञा ही नहीं हैं।

शकुन्तला—न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।

अभि. १ वा. ४८

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला के माध्यम से महाकवि कालिदास ने वृक्षों को जल देना प्रात:काल के आवश्यक दैनिक कर्म के अन्तर्गत रखकर पर्यावरण के लिए आवश्यक वृक्षों के संरक्षण के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की है। शकुन्तला वृक्षों को प्रतिदिन प्रात: जल देने के बाद ही जल ग्रहण करती थी।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं यति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनु ज्ञायताम्।।

अभि. ४.९

नए लगाये गए वृक्षों को बचाने के प्रति भी कालिदास के काव्य में चेतना दिखायी पड़ती है। कालिदास मालविकाग्निमित्रम् नाटक में विदूषक के माध्यम से कहते हैं। बकुलावालिका देखो यह मृग अशोक वृक्ष के पौधे की कोपलों को चरने आ रहा है इसलिए आओं इसे हटा दें ——

विदूषकः —बाकुलावलिके एष बालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि हरिणो लङ्घितुमागच्छति। एहि निवारयाव एनम्। मालविकाग्निमित्रम् ४ वा. १३१

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में वायु की शुद्धता की ओर भी संकेत किया है, जो पर्यावरण सन्तुलन के लिए आवश्यक है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा कहता है यह प्रदेश सुखद वायु के कारण क्या ही सुन्दर है।

अहो, प्रवात सुभगोऽयमुद्देशः। अभि. ३ वा. २ ग

शकुन्तला की विदाई के समय वायु की ३ विशेषताओं शीतल, मन्द और सुगन्ध से पूर्ण और कल्याणकारी होने की कामना की गयी है। आकाशवाणी होती है ——

भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः, शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः।।

अभि. ४/११

ऋतुसंहार में कालिदास ने विभिन्न ऋतुओं के वर्णन में वायु की विविध गुणयुक्तता का वर्णन किया है। वसन्त ऋतु में वायु को सुगन्धित से परिपूर्ण और अच्छी लगने वाली चित्रित किया है—

द्रुमाः सुपुष्पाः सलिलं सपद्मं
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते।।

ऋतु. ६.२

ऋतुसंहार में वसन्त ऋतु के वर्णन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इस ऋतु में मलयाचल की शीतल, मन्द, सुगन्ध से युक्त वायु चलती है।

मलयपवन विद्धः कोकिलालापरम्यः
सुरभि मधुनिषेकाल्लब्ध गन्ध प्रबन्धः।।

ऋतु. ६.३८

वर्षा ऋतु की वायु की विशेषता का वर्णन करते हुए महाकवि कालिदास कहते हैं कि नवीन जलकणों के संस्पर्श से शीतल, पुष्पों के भार से झुके हुए वृक्षों को कंपाने वाला तथा केवड़ा के पराग का सम्बन्ध होने के कारण सुगन्धित वायु प्रोषित पतिका रमणियों के मन को चुरा लेने का कार्य कर रही है।

नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः,
कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः,
परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि।।

ऋतु. २.२७

शरद ऋतु का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि प्रातःकाल धीरे–धीरे पवन के झोंकों से तरङ्गायित सरोवर देखने वालों के मन को सहसा उत्कण्ठित कर देता है–

मन्द प्रभात पवनोद्गतवीचिमालान्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि।

ऋतु. ३.११

जल :– जल जीव का प्रमुख अंश है। मनुष्य के शरीर में लगभग ७० प्रतिशत जल होता है। जल मनुष्य एवं समस्त जीवधारियों के लिए तथा पेड़ पौधों के लिए नैसर्गिक आवश्यकता है। अतः 'जल ही जीवन है' कहा जाता है। भूमण्डल का तीन चौथाई भाग जल से आच्छादित है। वैज्ञानिक शोधों के अनुसार वर्तमान में मात्र ०.३ प्रतिशत भाग ही स्वच्छ और शुद्ध जल है। समुद्र के जल से बादल बनता है। बादल, वर्षा के रूप में शुद्ध और प्राकृतिक जल के रूप में पृथ्वी पर आकर प्राकृतिक जल स्रोतों का रूप धारण करता है। इसी जल पर जीवों का जीवन निर्भर है। जल को स्वच्छ और निर्मल बनाए रखने के लिए हमारे कवि और मनीषी चिन्तित रहे। महाकवि कालिदास ने अपनी कृतियों में स्वच्छ और निर्मल जल की महत्ता का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है।

मेघदूत पूर्वमेघ में कालिदास ने मेघ (जल) को संतप्त जनों का रक्षक कहा है।

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद।। मेघदूत पूर्वमेघ ७

ऋतुसंहार में कालिदास ने वर्षा को प्राण स्वरूप बताते हुए कहा है—यह वृक्ष लता गुल्म आदि स्थावरों के लिए स्वाभाविक रूप से बान्धव है। समस्त प्राणियों को जल प्रदान करने के कारण यह सबका प्राण—स्वरूप है। यह वर्षा सबके लिए कल्याणप्रद हो—

बहुगुण रमणीय: कामिनीचित्तहारी,
तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकार:।
जलद समय एष: प्राणिनां प्राणभूतो,
दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि।।

ऋतु. २.२९

शरद ऋतु के वर्णन में कालिदास नदी के निर्मल जल का वर्णन करते हुए कहते हैं—शरद ऋतु में नदी स्वच्छ और निर्मल रहती है, यह दर्शक के मन में विशेष प्रकार का आनन्द उत्पन्न करती है।

कुर्वन्ति हंसविरुतै: परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्य।।

ऋतु. ३.८

शरद ऋतु में वायु की स्वच्छता के साथ जल की स्वच्छता का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि शरदकाल में हवा पुष्पों के संसर्ग से ठंडी चल रही है। बादलों के समाप्त हो जाने से दिशाएं स्वच्छ हो गयी हैं और मनोहर लगतीं हैं। जल में मलिनता समाप्त हो जाती है, अत: वह जल स्वच्छ हो गया है।

शरदि कुमुद सङ्गद्वायवो वान्ति शीता,
विगत जलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञा:।
विगत कलुषमम्भ: शयानपङ्का धरित्री,
विमल किरणचन्द्रं व्योमतारा विचित्रम्।।

ऋतु. ३.२२

हेमन्त ऋतु के वर्णन में कालिदास ने लिखा है कि विकसित नील कमलों से सुशोभित मदोन्मत्त पक्षियों के समूह से समलंकृत स्वच्छ तथा अत्यन्त शीतल जल भरे सरोवर पुरुषों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

प्रफुल्लनीलोत्पल शोभितानि
सोन्माद कादम्बविभूषितानि।
प्रसन्नतोयानि सुशीलतानि
सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम्।।

ऋतु. ४.९

कुमारसम्भव में कालिदास ने लिखा है जिस तरह निरन्तर एवं निर्मल प्रवाह से युक्त तथा समुद्र की लहरों तक पहुंची हुई तुम से निकलने वाली नदियां अपनी पवित्रता से सभी लोकों को पवित्र बनाती हैं, उसी तरह तुम्हारी कीर्ति भी लोकों को पवित्र बनाती है –

अच्छिन्नामलसन्ताना: समुद्रोर्म्यनिवारिता:।
पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तय: सरितश्च ते।।

कुमार. ६.६९

कुमार सम्भव में कालिदास ने नदियों की पवित्रता को बनाए रखने के लिए सन्देश देते हुए लिखा है—गंगा का पवित्र जल कल्याण करने वाला है।

गङ्गावारिणी कल्याणकारिणी, श्रमहारिणी।
सभग्नो निर्वृतिं प्राप पुण्यभारिणी तारिणी।।

कुमार. १०.३६

एक अन्य वर्णन में लिखा है—अमृत भरी गंगा को देखकर भला कौन आनन्दित नहीं हो सकता –

कं नाभिनन्दयत्येष दृष्टा पीयूषवाहिनी। कुमार. १०.४८

रघुवंश में कालिदास ने अगस्त्य ऋषि को वर्षा के गंदले जल को स्वच्छ करने वाला कहते हुए लिखा है– ये ही जब उदय होते हैं, तब वर्षा का सारा गंदला जल स्वच्छ कर दिया करते हैं।

तस्याविलाम्भ: परिशुद्धि हेतोर्भौमो,
मुने: स्थान परिग्रहोऽयम्।।

रघु. १३.३६

रघुवंश में मन्दाकिनी के स्वच्छ जल का वर्णन किया गया है—यह लो मन्दाकिनी आ गयी। इसका जल कैसा स्वच्छ और धीरे—धीरे बह रहा है।

एषा प्रसन्नस्तिमित प्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमे:।।

रघुवंश १३.४८

गंगा—यमुना को पवित्र और मोक्षप्रद बताते हुए लिखा है समुद्र की इन दो पत्नियों गंगा और यमुना में जो स्नान करके पवित्र होते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी संसार के बन्धनों से छूट जाते हैं।

समुद्र पत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीर बन्ध:।।

रघुवंश १३.५८

पशु संरक्षण :– महाकवि कालिदास ने अपनी कृतियों के माध्यम से सृष्टि के आवश्यक तत्त्व पशु–पक्षियों के संरक्षण का भी सन्देश दिया है। पर्यावरण सन्तुलन के लिए पशुओं का भी संरक्षण आवश्यक है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास ने मृगों को न मारने का उपदेश देते हुए अहिंसा का सन्देश दिया है।

भो भो राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य:।।

अर्थात् राजन् यह आश्रम का मृग है, इसे न मारिए।

कालिदास राजा के माध्यम से मृगों पर बाण चलाने के स्थान पर उन पर स्नेह का उपदेश देते हैं –

न नमयितुमधिज्यमास्मि शक्तो,
धनुरिदमाहित सायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यै: प्रियाया:,
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेश:।।

अभि. २.३

शकुन्तला मृगशावक पर पुत्रवत् स्नेह करती है –

श्यामाकमुष्टि परिवर्धितको जहाति,
सोऽयं न पुत्रकृतक: पदवीं मृगस्ते।।

अभि. ४.१४

रघुवंश में दिलीप की गो सेवा का वर्णन गो संरक्षण का सन्देश देता है।

इस प्रकार कालिदास के काव्यों में पर्यावरण के संरक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त चेतना दिखायी पड़ती है। पर्यावरण के सभी आवश्यक तत्त्वों के बीच सन्तुलन बना रहे, इसके लिए पूर्ण चेतना दिखायी पड़ती है।

डॉ. भारतेन्दु द्विवेदी
प्रवक्ता, संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
हमीरपुर (उ.प्र.)

बड़ी प्राचीन है भारत में सूर्योपासना की परम्परा

सूर्य विश्व में जीवन व गति का महान् प्रेरक, हमारे शुभाशुभ कर्मों का साक्षी, घड़ी, पल, दिन–रात, मास, ऋतु, वर्ष आदि का प्रवर्तक है। सृष्टि और सूर्य समवय के माने गये हैं। सृष्टि के साथ ही सूर्य का भी प्रादुर्भाव हुआ हैं सभी प्राणियों के जन्म से ही सूर्य के दर्शन होते हैं। बहुदेववादी व्यवस्था पर विश्वास करने वालों के लिए सूर्य ही एकमात्र ऐसा देवता है, जिसकी सत्ता के सन्दर्भ में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। पौराणिक उक्ति है–प्रत्यक्षदेवो दिवाकरः।

भारत में सूर्योपासना की परम्परा बड़ी प्राचीन हैं। विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध कृति ऋग्वेद में सूर्य के निमित्त कुल चौदह सूक्त प्राप्त होते हैं। जबकि वैदिक आर्यों ने सूर्य के अनेक रूपों की कल्पना पृथक्–पृथक् देवताओं के रूप में की थी, जैसे– सविता, मित्र, पूषा और विष्णु। ये सभी सौर–मण्डल देवता कहे जाते थे। इस प्रकार अगर सम्मिलित रूप से सूर्य सहित सौर–मण्डल के सभी देवताओं पर विचार किया जाय तो वैदिक आर्यों के लिए निस्सन्देह सूर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता था।

वैदिक मन्त्रों में सूर्य को जङ्गम तथा स्थावर सभी पदार्थों की आत्मा माना गया है–सूर्यआत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ. १/११५/११)। मन्त्रों में सूर्य को सुवर्ण के समान देदीप्यमान बताया गया है। जिसके हाथ, पैर, नेत्र और जिह्वा सब सुवर्णमय हैं। सूर्य सात तीव्रगामी अश्वों द्वारा संचालित रथ पर आरूढ़ प्राची के क्षितिज से अपने हिरण्यमय नेत्रों द्वारा समस्त विश्व का अवलोकन करते हुए गमन करता है। वह प्राणियों को पाप तथा दोषों से मुक्त कर आरोग्य प्रदान करता है। अपने गौरव तथा महत्त्व के कारण सूर्य देवताओं का पुरोहित कहा गया है। इतना ही नहीं विश्व को उत्पन्न करने के कारण उसे विश्वकर्मा भी कहा गया है।[1] वैदिक मन्त्रों में सर्वाधिक प्रसिद्धि गायत्री मन्त्र को प्राप्त है–जिसका उपास्य दैव सूर्य (सविता) ही है।[2] इस मन्त्र में सूर्य से बुद्धि को सन्मार्ग पर ले चलने के लिए प्रार्थना की गयी है। प्रत्येक आर्य के लिए गायत्री छन्द में लिखे गये इस परम पवित्र मन्त्र का प्रातः तथा सायंकाल में पाठ परमावश्यक माना जाता था। यह वैदिक आर्यों द्वारा प्रतिदिन सम्पादित किये जाने वाले छः नित्य कर्मों में से एक था।

आदि महाकाव्य रामायण तथा महाभारत में भी सूर्योपासना का उल्लेख मिलता है। यद्यपि तत्सम्बन्धी उल्लेख जहाँ कहीं भी है आनुषङ्गिक ही है। रावण से युद्ध करने के पूर्व भगवान् राम ने अगस्त्य मुनि के परामर्श से सूर्य की उपासना के रूप में "आदित्य हृदय" स्तोत्र का पाठ किया। जिससे प्रसन्न होकर सूर्य ने रावण पर विजय के लिए भगवान् राम की सहायता की थी। सूर्य द्वारा

हनुमान् को व्याकरणशास्त्र की शिक्षा देने तथा उन्हें अनेक वर प्रदान करने का प्रसंग भी उल्लेखनीय है। महाभारत में सूर्य के सन्दर्भ में सबसे प्रचलित प्रसंग–कर्ण का जन्म है। पितामह भीष्म ने शरीर त्याग के लिए सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा शरशैय्या पर अट्ठावन दिन तक की थी और सूर्य को मोक्ष का द्वार कहा था। महाभारत में ही सूर्य के अष्टोत्तर शतनामों का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। कुछ अन्य प्रसंग भी सूर्योपासना के प्राप्त होते हैं।

वैदिक धर्म के परम विरोधी बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बियों में भी सूर्य की उपासना का प्रचलन था। पश्चिम भारत में स्थित प्रसिद्ध बौद्ध गुफा में सूर्य की मानव रूपी प्रतिमा प्राप्त होती है। बोध गया में बौद्ध स्तूप की वेदिका पर सूर्य को एक रथ पर आसीन दिखाया गया है। इसी प्रकार खण्डगिरी (उड़ीसा) की जैनी गुफा में सूर्य की एक भव्य प्रतिमा प्राप्त होती है। बौद्ध जातकों तथा जैन–आगमों में सूर्योपासना के सन्दर्भ में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।[3] यही वह समय था जब सूर्य की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। सूर्योपासना का आरम्भिक स्वरूप प्राय: प्रतीकात्मक ही था। सूर्य का प्रतीकत्व चक्र, कमल आदि से व्यक्त किया जाता था। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि सबसे पहले सूर्य की मूर्तियों का निर्माण कुषाण युग में प्रारम्भ हुआ। जिस पर गान्धार कला की छाप स्पष्ट थी। सम्राट् कनिष्क (७८ ई.) के पूर्वज शिव तथा सूर्य के उपासक थे। इसी समय की गान्धार शैली में बनी कुछ सूर्य की प्रतिमाएं आज भी मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिनकी बनावट व साज–सज्जा पूर्णत: मध्य एशियाई है। प्रतिमाओं में सूर्य को लम्बा ओवरकोट और घुटने तक जूते पहने व हाथ में कमल पुष्प धारण किए दिखाया गया है। कुषाण वंशीय शासकों ने अनेक ऐसे सिक्के चलाये जिस पर सूर्य की आकृति खुदी हुई थी।[4]

गुप्तकाल में सूर्य, विष्णु तथा शिव की उपासना के संकेत प्राप्त होते हैं। कुमारगुप्त सूर्य तथा कार्तिकेय का अनन्य उपासक था। इसी काल में मत्स्यभट्टी द्वारा लिखे गये मन्दसौर (दशपुर) अभिलेख के प्रारम्भिक तीन श्लोकों में सूर्य की प्रार्थना की गयी है।[5] स्कन्ध गुप्त के इंदौर से प्राप्त ताम्रपत्र में सूर्य की स्तुति की गयी है। इस काल में अनेक सूर्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। जिनमें मन्दसौर, ग्वालियर, इन्दौर तथा बघेल खण्ड (आश्रमक) के चार श्रेष्ठ सूर्य मन्दिर उल्लेखनीय हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबारी महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में सूर्य के उपस्थापना का वर्णन किया है। कालिदास द्वारा रचित रघुवंश महाकाव्य में (३/२२) सूर्य के सात हरे अश्वों का उल्लेख प्राप्त होता है।

सातवीं शताब्दी में सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में सूर्योपासना अपने चरम पर थी। हर्ष के पिता प्रभाकर वर्द्धन तथा उनके पूर्वज आदित्य भक्त थे। बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ हर्ष–चरित् में प्रभाकर वर्द्धन के विषय में लिखा है कि वे स्वभाव से ही सूर्य भक्त थे तथा प्रतिदिन सूर्योदय के समय स्नान करके आदित्य हृदय स्तोत्र का पाठ करते थे। हर्ष के दरबारी कवि मयूर ने कुष्ठ से

मुक्ति के लिए "सूर्य शतक" की रचना की। आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ में भवभूति ने अपने मालती माधव नाटक में सूत्रधार से पापों के क्षय और कल्याण के लिए उदित होते हुए सूर्य की स्तुति करायी है।

आठवीं शताब्दी में ही कश्मीर के शासक ललितादित्य मुक्तापीड़ द्वारा प्रख्यात मार्तण्ड (सूर्य) मन्दिर का निर्माण कराया गया था। इस प्राचीन सूर्य मन्दिर का भग्नावशेष आज भी उपलब्ध है। कवि कल्हण ने राजतरङ्गिणी में इस मन्दिर का उल्लेख किया है। सोलंकी राजा भीमदेव ने मोढेरा (गुजरात) में एक सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था। यह मन्दिर आज भी नष्ट प्राय दशा में विद्यमान है। इस मन्दिर में ईरान की शिल्पकला का प्रभाव दिखायी पड़ता है। मन्दिर के प्राचीर पर जूते व कमर में पट्टा धारण किये हुये सूर्य नारायण की मूर्ति है। तेरहवीं शताब्दी में गंग वंशीय शासक नरसिंह देव ने विश्व प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर का निर्माण कोणार्क (उड़ीसा) में कराया। यह मन्दिर सात वेगयुक्त अश्वों द्वारा खीचें जाते हुए सूर्यरथ के रूप में बनाया गया है। इसके अतिरिक्त प्रतिहार, परमार, चालुक्य चौहान, गहड़वाल, चन्देल, कलचुरी आदि वंशों के अनेक शासक सूर्य के उपासक थे, जिन्होंने अनेक सूर्य मन्दिरों का निर्माण कराया।

भारतीय हिन्दू शासक ही नहीं वरन् विश्व के महान् विजेताओं में से एक सिकन्दर भी सूर्य का उपासक था। हूण शासक तोरमाण और मिहिरकुल सूर्य की पूजा करने वालों में थे। मिहिरकुल ने अपने शासन के पन्द्रहवें वर्ष में एक सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था। यही नहीं महान् मुगल सम्राट् अकबर भी सूर्य का उपासक था। उसने आदेश निकलवाया था कि प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्द्धरात्रि में चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिए। वह स्वयं सूर्य के अभिमुख होकर उसके सहस्रनाम का पाठ और पूजन करता था। इसके बाद दोनों कानों को स्पर्श करके चक्राकार घूमता और अपनी अंगुलियों से कर्णपाली को पकड़ता था। वह अन्य विधियों से भी सूर्य की पूजा करता था। जहांगीर भी सूर्य का आदर करता था। उसने अकबर द्वारा सम्मानित सौर–संवत् को राजकीय आय–व्यय की गणना के लिए प्रचलन में रखा था। (आइने अकबरी, ब्लाखमैन का अनुवाद पृ. २०९ से २११ तक)

सूर्य की उपासना का प्रचलन भारत में ही नहीं वरन् विश्व के अनेक देशों में प्राचीनकाल से ही रहा है। यहाँ यह कहना प्रासंगिक ही होगा कि सूर्योपासकों की एक जाति शकद्वीप (वर्तमान ईरान) से यहाँ आयी थी। वे लोग 'मग' के नाम से जाने जाते थे। गरुड़ पुराण में वर्णित है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ हो जाने पर उन्होंने चिनाब (चन्द्रभागा) नदी के तट पर एक सूर्य मन्दिर बनवाया था। वहां मूर्तिपूजा के लिए शकद्वीप निवासी 'मग' पुजारियों को बुलाया था, जिनके पूजन से साम्ब को रोग से मुक्ति मिली। उन दिनों ये लोग सूर्य–साधना के विशेषज्ञ माने जाते थे। बाराहमिहिर ने बृहत्संहिता (६०/१९) में कहा है कि सूर्य पूजा के लिए मगों को ही पुजारी बनाया जाता था। यह जाति मूलतः प्राचीन ईरान की 'मग' जाति थी। कुषाण युग में सूर्योपासना की यह

विधि मगों के माध्यम से भारत आयी थी। हर्षचरित में बाणभट्ट ने लिखा है कि हर्ष के जन्म के समय जो ज्योतिषी बुलाये गये थे, वे सूर्य के उपासक 'मग' ही थे।[६]

सूर्य को परमात्मा मानने वाले सौर सम्प्रदाय के अनुयायी 'मग' ललाट पर लालचन्दन से सूर्य की आकृति बनाते थे और लाल फूल की माला धारण करते थे। वे अपने कमर में मेखला धारण करते थे—जो अव्यंग कहलाती थी। 'मग' लोग ब्रह्म रूप में उदयोन्मुख सूर्य की, महेश्वर रूप में मध्याह्न सूर्य की तथा विष्णु रूप में अस्तोन्मुख सूर्य की पूजा करते थे। सूर्य के कुछ भक्त तो सूर्य का दर्शन किये बिना भोजन भी ग्रहण नहीं करते थे। कुछ उपासक तपाये हुये लोहे से ललाट, बाहु तथा वक्ष पर सूर्य की मुद्रा को अंकित कर निरन्तर उसके ध्यान में मग्न रहते थे। सूर्य उपासकों के लिए रविवार के दिन पूर्ण व्रत का विधान था।[७]

कलकत्ता के संग्रहालय में आज भी उपलब्ध एक शिलालेख में मगों के जन्म और उनके भारत आगमन के सन्दर्भ में एक विवरण प्राप्त होता है। इस शिलालेख का काल दसवीं शताब्दी माना गया है। इसका विवरण पाश्चात्त्य विद्वान् कनिंघम ने 'कनिंघम आरकेलॉजिक रिपोर्ट भाग —सोलह' में दिया है। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि सूर्योपासना की विधि जटिल थी अत: विशुद्ध रूप से सूर्योपासकों की संख्या नगण्य ही थी। कालान्तर में ईरान से आये हुए ये 'मग' पुजारी पृथक् रूप से अपनी परम्परा को जीवित न रख सके, किन्तु इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने भारतीय सूर्योपासना पद्धति में कुछ परिवर्तन तो अवश्य ही कर दिया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में सूर्योपासना की एक अक्षुण्ण परम्परा चली आ रही है। यद्यपि उपासना विधि में अल्प परिवर्तन हुआ है तथापि सूर्य का देवत्व सदैव से विद्यमान है।

हेरम्ब पाण्डेय

एन १/३० ए—९

नगवा, वाराणसी—५

सन्दर्भ संकेत :—

१. ऋग्वेद १०/१७०/४ २. ऋग्वेद ३/६२/१०

३. पं. बलदेव उपाध्याय—पुराण विमर्श पृ. ४९९—५००

४. डॉ. जयशंकर मिश्र—प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ.—७२८

५. डॉ. रमाकान्त झा— अभिलेख माला पृष्ठ— २९

६. हर्ष चरित (चौखम्बा प्रकाशन) पृ. १४८

७. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर (अनुवादक—महेश्वरी प्रसाद) वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. १७५

आचार्य : वैदिक दृष्टिकोण

आङ् उपसर्ग पूर्वक चर धातु से ण्यत् प्रत्यय कर आचार्य पद सिद्ध होता है। सामान्यत: अध्यापक या गुरु आध्यात्मिक गुरु, विशिष्ट सिद्धान्त का प्रस्तोता, (जब व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से पूर्व लगता है तब) विद्वान् पण्डित (अंग्रेजी के 'डॉक्टर' शब्द का कुछ समानार्थक) प्रतिष्ठित, सम्मानित व्यक्ति हेतु आचार्य पद का प्रयोग किया जाता है। आध्यात्मिक गुरु का अभिप्राय उपनयनकर्त्ता तथा वेदशिक्षक से है।[1] मनु ने इसी उद्देश्य से इसी ओर संकेत करते हुए लिखा था—

उपनीय तु य: शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विज:।
संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।

२.१४०

वेदाङ्गकाल में आचार्य तीन उद्देश्यों की पूर्ति कराता था —

१. सदाचार की शिक्षा देता था।
२. पदार्थों का संचय कराता था।
३. शिष्य की बुद्धि का संचय करता था।

आचार्य आचारं ग्राह्यति, आचिनोत्यर्थान्,
आचिनोति बुद्धिमिति वा।। निरु. भूमिका

ऋग्वेदप्रातिशाख्य के प्रारम्भ में विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति में आचार्य उसे कहा गया है जो व्यक्ति पदपाठ और क्रमपाठ के भेद को जानता है, वर्णों के क्रम अर्थात् संहितापाठ में जो विचक्षण है तथा "स्वर" और "मात्रा" को विशेष रूप से जानता है—

पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षण:।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम्।।८।।

जो व्यक्ति उपरोक्त गुणों से रहित होकर नामधारी आचार्य बनकर अशुद्ध याजन और अध्यापन करता है, उसके छन्द व्यर्थ हो जाते हैं, वह स्थाणु को प्राप्त हो जाता है, गड्ढे में गिर जाता है, अथवा विनष्ट हो जाता है—

याजनाध्यापनाभ्यां स छन्दसां यातयामं वा।
स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते प्रमीयते वा।।

ऋक्सर्वानुक्रमणी की परिभाषा १ और आर्षेय ब्राह्मण १/१ में भी इन्हीं विचारों को प्रकट किया गया है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में आचार्य का स्वरूप बताते हुए लिखा है— जो व्यक्ति शास्त्र के अर्थ का चयन कर लेता है, सदाचार में जनों को स्थापित करता है, और स्वयं भी सदाचार का आचरण करता है, इसलिए वह आचार्य कहलाता है—

आचिनोति च शास्त्रार्थान् आचार्ये स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते।।[2]

यम और नियमों में युक्त होकर जो व्यक्ति स्वयं सदाचारी बने, अन्यों को बनने की प्रेरणा दे तथा शास्त्र के रहस्य को समझे, वायुपुराण का कर्त्ता उसे आचार्य घोषित करता है–

स्वयमाचरति यस्मात् आचारं स्थापयत्यपि।
आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सनियमैर्युतः।।[3]

वेदविद्या का ज्ञाता, विष्णु का सेवक, ईर्ष्या से रहित, योगविद्या का जानकार, स्वयं योग में निष्ठा रखने वाला, योगात्मक और पवित्र जन आचार्य कहा जा सकता है।

आचार्यो वेदसम्पन्ने विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञः योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः।।[4]

अथर्ववेद के एकादश काण्ड के पांचवें सूक्त में ब्रह्मचारी का वर्णन है, उसमें सात मन्त्र ऐसे भी हैं जो आचार्य के स्वरूप का दर्शन कराते हैं। जो ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक में विचरण करता हुआ, देवजनों का सहयोग पाकर इन्हें अपनी क्रिया के विस्तार से और प्रकृष्ट यशरूपी तेज से धारण और पोषण करता है, ऐसा ब्रह्मचारी कठोरश्रम से अपने आचार्य को (आचार्य के अन्दर विद्यमान सदाचार को) और अधिक परिपूर्ण कर देता है–

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवा संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति।।१।।

भाव यह है कि यदि आचार्य स्वयं सत्क्रियाशील और धवल यशवाला होगा, तभी उसका ब्रह्मचारी उसके उस यश को फैला कर उसे और विस्तार देगा। क्योंकि ब्रह्मचारी अपने आचार्य से मात्र एक पाद सीखता है, उसका विस्तार तो वह अपनी मेधा, साथी और कालक्रम से करता है–

आचार्यात् पादमादन्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण च।।[5]

वेद के शब्दों में आचार्य वह है जो ब्रह्मचारी का उपनयन कर उसे गर्भस्थ करता है, उस ब्रह्मचारी को आचार्य तीन रात्रियों तक उदरस्थ बनाता है, तभी तो उस उत्पन्न ब्रह्मचारी को देवजन देखने के लिये एकत्रित होते हैं–

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।[6]

अपने तप से आचार्य ब्रह्मचारी के समस्त दोषों का विनाश मृत्यु बनकर करता है, वरुण रूप में मस्तिष्क, हृदय और उदर स्थान से उसे बांधकर उपनयन कराता है, ये आचार्य के जहाँ कठोर रूप हैं, वहां सोम, ओषधि और पयः रूप आचार्य के मृदु हैं, जिनसे वह ब्रह्मचारी को स्नेह देता है–

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।[7]

आचार्य ब्रह्मचारी होता है, जो ब्रह्मचारी है वही प्रजापति है, प्रजापति संसार में राज्य करता है, वही विराट् और इन्द्र बनकर लोक को वश में करता है–

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोभवद्वशी।।[8]

यद्यपि पाणिनीय धातुपाठ में इष् धातु इच्छार्थक होने के साथ परस्मैपदी है, किन्तु वेद में यह धातु आत्मनेपदी भी पठित है, तब अर्थ कुछ इस प्रकार होगा—आचार्य स्वयं आचार्य बनने के लिये ब्रह्मचारी की इच्छा करता है—

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।[९]

वस्तुत: यहाँ पर आत्मनेपद का प्रयोग इसलिये हुआ है कि अपने को आचार्य बनाना क्रियाफल है।

आचार्य के लिये अमृतत्व की कामना इसीलिये की गयी है कि वह राष्ट्र को अत्यधिक प्राणशक्ति सम्पन्न बनाता है—

आयुरस्मासु धेह्यमृतत्त्वमाचार्याय।।[१०]

आचार्य की महिमा का वर्णन वेद ने निम्न दो स्थलों पर भी गाया है—

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवा: संमनसो भवन्ति।[११]
अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत्प्रजापतौ।
तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान्मित्रो अध्यात्मन:।।[१२]

वस्तुत: वेदों में आचार्य उस पुरुष का नाम है, जो राष्ट्र के लिये अहर्निश विचार कर कार्य सम्पन्न करता है, छात्र के दोषों का विनाश कर उसमें गुणों का आधान करता है एवं उसका उपनयन संस्कार कर नया जन्म प्रदान करता है, सदाचार की शिक्षा प्रदान करना उसका मुख्य उद्देश्य है, इसीलिये आचार्य पद में चर धातु उसी ओर संकेत करती है।

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार
२०, बडा परिवार,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तराञ्चल)

सन्दर्भ संकेत :—

१. द्र. — पद्मचन्द्रकोश, पृष्ठ ११०, बृहत, संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, I
२. आ. ध. सू. १/१/१४
३. वा. पु. ५९—३०
४. अद्वयतारकोपनिषद्
५. नीलकण्ठस्मृति
६. अथर्व. ११.५.३
७. अथर्व. ११.५.१४
८. अथर्व. ११.५.१६
९. अथर्व. ११.५.१७
१०. अथर्व. १९.६४.४
११. अथर्व. ११.५.८
१२. अथर्व. ११.५.१५

"महर्षि दयानन्द" समाज सुधारक के रूप में

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अग्रणी की भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने भारतीय समाज में उत्पन्न विसंगतियों के निवारण का जो प्रयास किया, वह एक ओर मानवतावादी मूल्यों पर आधारित था तो दूसरी ओर वह परम्परागत भारतीय संस्कृति के मूल्यों पर भी आधारित था। आर्यसमाज द्वारा समाज सुधार कार्य को प्राथमिकता दी गयी तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का हर सम्भव प्रयास किया गया। स्वामी दयाननद ने नई समाज की रचना की कल्पना की। उन्होंने नये मानक संगठन के लिए और नई सर्जना–क्षमता से सक्रिय होने के लिए भारतीय व्यक्तित्व को वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने वेदों के प्रमाण्य का आधार विवेक संगत ही ग्रहण किया है। वेदों में समस्त ज्ञान की अभिव्यक्ति है वह सहज ही सबके लिए समान रूप ग्राह्य है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति के माध्यम से जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना की है वे भारतीय समाज की आधुनिक प्रगति तथा रचना की दृष्टि से उपयोगी एवं अनुकूल प्रतीत होते है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बाल विवाह का प्रचलन अत्यन्त व्यापक हो गया था। अल्पायु में लड़के–लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। कम आयु में लडकों का निधन होने से समाज में विधवाओं की संख्या में वृद्धि हो रही थी। विधवाओं को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था। स्वामी दयानन्द नारी के सामाजिक अधिकारों के प्रति सर्वथा सचेत थे। उन्होंने बाल विवाह, वृद्ध विवाह, बेमेल विवाह आदि से होने वाले सामाजिक अत्याचारों को मिटाने के लिए अथक् प्रयास किया और स्त्रियों को पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक स्वतन्त्रता का अधिकारिणी बनाया।

स्वामी दयानन्द का मत है कि "बाल्यावस्था में विवाह का परिणाम है कि ब्रह्मचर्य के अभाव में युवक एवं युवतियों के शारीरिक व मानसिक शक्तियों का समुचित विकास नहीं हो पाता है और जिससे इस देश की उन्नति में बाधा पहुंचती हैं।" स्वामी जी के विचार में चौबीस वर्ष के बाद विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ होता है तथा १६ वर्ष के पश्चात् स्त्री का गर्भाशय और शरीर बलयुक्त हो जाता है जिससे उत्तम सन्तान प्राप्त होती है। स्वामी जी के विचार में विवाह की उत्तम आयु लडकियों के लिए १६ और २४ वर्ष और पुरुषों के लिए २५ से ४८ वर्ष होनी चाहिए। स्वामी जी ने इस कुप्रथा के समाप्त करने के लिए राजशक्ति के प्रयोग की परामर्श दी थी। शारदा अधिनियम एवं भारत सरकार द्वारा कानूनी दृष्टि से १८ वर्ष की लडकी

एवं २१ वर्ष की आयु के लडके को मान्यता दिए जाने से भारतीय समाज में बालविवाह के प्रचलन में निरन्तर कमी हो रही है। वर्तमान समय में भी आर्यसमाज द्वारा बालविवाह की कुरीति को समाप्त करने हेतु प्रयास किए जा रहे हैं।

स्वामी दयानन्द के प्रादुर्भाव के समय विवाह पद्धति में अनेक दोष—अंधविश्वास, आडम्बर समाज में प्रचलित थे। स्वामी दयानन्द ने जनमानस का ध्यान विवाह पद्धतियों में दोषों की ओर आकृष्ट किया और इन दोनों को समाप्त करने के लिए प्रयास किया। स्वामी जी ने दहेज तथा अन्य अपव्यय की निन्दा करते हुए ब्राह्य विधि से विवाह को सर्वश्रेष्ठ बताया है। विवाह सम्बन्ध का निर्धारण नाइयों द्वारा किया जाता था। वर वधू की जन्म पत्रियों को मिलाकर के विवाह सम्बन्ध तय किए जाते थे। आर्यसमाज ने इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। विवाह सम्बन्ध का निर्धारण के लिए गुण, कर्म, स्वभाव की समानता को प्रदान किया। स्वामी दयानन्द का मन्तव्य था कि स्त्री पुरुषों का विवाह हो, उन्हें विद्या, कुल, रूप, शरीर, धन, गुण, कर्म, स्वभाव आदि के तुल्य होना चाहिए और विवाह सम्बन्ध का निर्धारण माता—पिता के स्थान पर युवक युवती को स्वेच्छापूर्वक करना चाहिए। उन्होंने न केवल स्वयंवर विवाह का समर्थन किया अपितु अन्तर्जातीय, अन्तर्देशीय, अन्तर्धार्मिक विवाहों की अनुमति प्रदान की है। महर्षि के क्रान्तिकारी विचारों ने नारी जागरण की दिशा में अद्‌भुत कार्य किया। इससे स्त्री जाति को नवजीवन और नई दिशा मिली।

महर्षि पुरुष के साथ नारी की समानता का पूर्ण समर्थन करते हैं। स्वामी जी ने आपद्‌धर्म के रूप में गृहस्थ की पवित्रता की दृष्टि से विधवाओं के पुनर्विवाह को उचित माना है। आपके अनुसार जब पुरुषों को द्वितीय विवाह की आज्ञा दी जाती है तो स्त्रियों को भी द्वितीय विवाह से नहीं रोकना चाहिए। विधवाओं को स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से आर्यसमाज ने अनेक विधवाश्रमों की स्थापना की है जिसमें विधवा स्त्री के भरण पोषण के साथ—साथ उन्हें विभिन्न लघु उद्योगों, सिलाई—कढ़ाई आदि का प्रशिक्षण दिया है। स्वामी मंगलदेव की प्रेरणा से सन् १९०९ में आगरा में "विधवा हितकारिणी सभा" की स्थापना हुई थी। सन् १९११ में आगरा विधवाश्रम स्थापित हुआ, जिसमें प्रारम्भ में ३ विधवाएं थीं। बाद में निरन्तर वृद्धि होती गयी और प्रतिवर्ष १०० विधवाएं आश्रम में प्रविष्ट होने लगी।

महर्षि दयानन्द ने पर्दाप्रथा के समान सतीप्रथा तथा वेश्यावृत्ति का विरोध किया है। वेश्यावृत्ति के साथ—साथ तीर्थ स्थानों पर स्वयं माता—पिता द्वारा कर्मकाण्डी हिन्दूपण्डों द्वारा कन्यादान करने की जो कुप्रथा प्रचलित थी, उसे स्वामी जी ने अत्यन्त घृणित और त्याज्य कर्म बताया है। आर्यसमाज द्वारा पर्वतीय नामक कन्याओं जो वेश्यावृत्ति में संलग्न थीं, उनका उद्धार किया तथा मेरठ में उनके लिए आश्रम खोला गया। जिससे यह प्रथा समाप्त हो सकी।

उन्नीसवीं शताब्दी में पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर समाज में स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं दिया गया था। वेदों को स्वामी दयानन्द ने अपौरुषेय माना है और वेदों को ज्ञान, सत्य की अनुभूति का एकमात्र आधार घोषित किया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार प्रत्येक हिन्दू चाहे वह निम्न जाति का हो या उच्च जाति का, स्त्री हो या पुरुष वेदाध्ययन करना चाहिए। स्वामी जी के अनुसार वेद ही ऐसा ग्रन्थ है जिसकी छत्रछाया में संसार के सभी मानव सुख शान्ति पा सकते है। नारी को स्वामी दयानन्द ने पुरुषों के समकक्ष माना है और वेदादि का दोनों को समाज ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी माना है। ज्ञानस्वरूप वेद का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक मानव को है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हिन्दू स्त्रियों पर अमानवीय बन्धन दूर करने के प्रयास किए।

आर्यसमाज के प्रादुर्भाव के समय भारतीय समाज में निम्न जातियों के सदस्य अछूत माने जाते थे। इनके विरुद्ध असह्य और अकथनीय अत्याचार होते थे। दक्षिण में अस्पृश्यता की प्रथा भयावह थी। स्वामी दयानन्द ने निम्न वर्ण के साथ हो रहे अत्याचारों की निन्दा की । स्वामी जी जन्म के आधार पर किसी को अछूत नहीं मानते थें। उन्होंने गुरुकुलों में निःशुल्क शिक्षा, खान–पान में समानता का व्यवहार प्रदान किया। आर्यसमाज द्वारा अछूतोद्वार आन्दोलन किए गए। स्वामी दयानन्द ने समस्त धार्मिक कार्यो में शूद्रों को भाग लेने में स्वतन्त्रता प्रदान की तथा इन पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाने की सलाह दी। आर्य समाज द्वारा धर्म परिवर्तन किए गए व्यक्ति को पुनः स्वधर्म में शामिल किया गया। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में अछूतों तथा दलितों का उद्धार करने तथा समाज में उचित स्थान दिलाने को जो प्रयत्न किया गया था वह उनके पश्चात् आर्यसमाज द्वारा जारी रखा गया।

आर्यसमाज द्वारा अनाथों, असहायों की सहायता एवं सुरक्षा के लिए अनाथालयों की स्थापना की। अनाथों, बेसहारा, अबलाओं के संरक्षण के लिए आर्य समाज द्वारा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य किए जा रहे हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने जीवनकाल में सन् १८६६ में फिरोजपुर पंजाब में हिन्दू अनाथालय स्थापित किया था। उस संस्था द्वारा और अन्य आर्य समाज द्वारा संचालित अनाथालयों के माध्यम से सहस्रों अनाथों का पालन हुआ तथा उन्हें सुशिक्षित एवं स्वावलम्बी बनाया जा रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज में अनेक जातियां एवं उपजातियां उत्पन्न हो गयी थीं। तत्कालीन समाज में जाति व्यवस्था विकृत थी और यह व्यवस्था सामाजिक, राष्ट्रीय संस्था बनकर समाज को विघटन की ओर अग्रसर कर रही है। स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज में प्रचलित कट्टर जातिप्रथा का खण्डन किया एवं इसे दूर करने का प्रयास किया। स्वामी दयानन्द ने जातपांत, छुआछूत, ऊँच–नीच के विरुद्ध उपदेश दिया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का

आधार, जन्म के स्थान पर कर्म माना। स्वामी जी के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी भी वर्ण का व्यक्ति सदस्य बन सकता है और वैदिक धर्म की मान्यताओं का अनुसरण करके समाज को संगठित कर सकता है।

महर्षि दयानन्द ने धर्म के निरर्थक कर्मकाण्डों के नाम पर चलाई गयी कुरीतियों, अंधविश्वासों, जड़ पूजाओं मान्यताओं का घोर विरोध किया। महर्षि के अनुसार शूद्रों सहित समस्त मानव मात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। महर्षि ने भूतप्रेत, राक्षस, पिशाच का खण्डन किया है। जब कोई मर जाता है तो उसे प्रेत कहते हैं। दाह संस्कार हो जाने के बाद भूत अर्थात् बीता हुआ हो जाता है। स्वामी जी के विचार में भूत, प्रेत आदि स्वयं अपने आप में बैठा डर है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं समाज में व्याप्त इस अंधविश्वास को उन्होंने दूर करने का प्रयास किया।

हिन्दू समाज में पुत्र प्राप्त हेतु अनेक अंधविश्वास तथा व्रत, ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, मुहूर्त्त को महत्त्व नहीं दिया है। जादू, टोना आदि अंधविश्वास पर स्वामी जी विश्वास नहीं करते थे।

स्वामी दयानन्द ने सामाजिक क्षेत्र के सुधार के महत्त्वपूर्ण विकास किए। स्वामी जी ने अंधविश्वास, पाखण्ड, पौराणिकवाद, धर्म की आड़ में हो रहे अत्याचारों, स्त्रियों की निम्न स्थिति, दहेज प्रथा, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह निषेध, देवदासी प्रथा, पर्दाप्रथा आदि कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने विचारों से समाज में जागृति उत्पन्न की और समाज को नई दिशा दी। स्वामी जी के अंधविश्वास एवं पाखण्ड के खण्डन एवं हिन्दू समाज को संगठित करने का प्रयास समाज में परिवर्तन और आधुनिकीकरण का सूचक है।

डॉ. आर्येन्दु द्विवेदी
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
जालौन (उ.प्र.)

अगर तुम्हीं पाषाण बने तो ....!

तुमने तिमिर मिटाने के मिस, केवल तम का समूह बटोरा।
सजल–कल्पना–लोक रचाकर, केवल छल औ' कपट बटोरा।।
तुमने तप के पुण्य भवन भी, कीचड़ के तालाब बनाये।
तुमने बीज कंटीले बोकर, अपने भी कर लिये पराये।।

तुमने परिवर्तन लाना था, तुम खुद ही पत्थर बन बैठे।
अपने अहंभाव पर केवल, तुम मिथ्या का दम्भ लपेटे।।
तुमने फागुन ही लाना था, यह कैसी पतझर ले आये।
जीवन के कोमल भावों पर, तुमने कांटे खूब उगाये।।

सबकी उन्नति में उन्नति का, तुम्हें नियम करना था विस्तृत।
वसुधैव के भावों में जग, तुम्हे, प्रिये! करना था दीक्षित।।
तुम्हे कुटिलता ओ' गुरुडम के किले ध्वस्त करने थे मिलकर।
तुम्हे तमस् को सदा भगाकर, ज्योतित करने थे शत दिनकर।।

तुम्हे बहानी थी जन–जन में, सदाचार की पावन–धारा।
तुम्हे मिटानी थी पल–भर में, दुराचार की कुत्सित कारा।।
नन्हे–नन्हे इन बच्चों को, तुम्हे सदा पथ थाा दिखलाना।
दीन–हीन दुखियों के हित में तुम्हे यहाँ था स्वर्ग बनाना।।

तुम्हे प्रवर्तित करने थे यहाँ वेद–ऋचाओं के पावन–स्वर।
तुम्हे सुगन्धित करने थे यहाँ, गंधहीन, कातर, जीवन स्वर।।
तुम्हे मिटानी थी जग भर से, दुष्ट दानवों की दानवता।
तुम्हे जगानी थी जग भर में, महान् मानवों की मानवता।।

तुम्हे गगन ओ' धरा सभी में, अपना यश विस्तृत करना था।
तुम्हे ऊंच औ नीच सभी का, भेद–भाव समतल करना था।।
तुम्हे वीरता के प्रहरी बन, बलिदानी पथ पर चलना था।
तुम्हे वर्ण–आश्रम' का केतु, घर–घर पर ज्योतित करना था।।

तुम्हे विकास देना था उनको, जो युवक सन्यस्त हुए थे।
तुम्हे प्यार देना था उनको, जो निज घर को त्याग चुके थे।।
तुम्हे मर्यादा में रहना था, जग को पथ दिखलाने वालों।
तुम्हे हंसाना और हंसना था, आज स्वयं पर रोने वालों।।

तुम्हे प्रवाहित करनी थी यहाँ, आर्य सभ्यता की निर्झरिणी।
मुम्हे नष्ट करनी थी जग से, द्वेष–दम्भ की कुल कलंकिनी।।
तुम्हे पल्लवित करनी थी यहाँ, शुष्क चमन की मुरझी कलियाँ।
तुम्हे निनादित करनी थी यहाँ, प्रेम–प्रीति की मन्द–मुरलियां।।

किन्तु तुम्ही हो गये भ्रष्ट तो, शिष्ट कौन फिर रह पायेगा।
अगर तुम्ही पाषाण बने तो, क्या वैदिक धर्म रह पायेगा।।
अगर तुम्ही भटके स्वार्थों में, सत्य–सनातन कौन कहेगा।
अगर तुम्ही बह गये भोग में, फिर जीवन में कौन तरेगा।।

अगर तुम्ही हो गये अन्ध तो, अन्धकार फिर कौन हरेगा।
अगर तुम्ही हो गये रुग्ण तो, भव–रोगों को कौन हरेगा।।
अगर तुम्ही हो गये निराश तो, आशा कुसुम न खिल पायेगा।
अगर तुम्ही हो गये मूक तो, दुराचार शह पा जाएगा।।

तुम्ही फंसे यदि 'जातिवाद' में फिर उद्धार न हो पायेगा।
तुम्ही फंसे यदि 'स्वार्थवाद' में, फिर उपकार न हो पायेगा।।
तुम्ही यदि कायर बन बैठे, बलिदानी पथ कौन गढ़ेगा।
तुम्ही यदि बह गये प्रवाह में, फिर तरणि को कौन तरेगा।।

तुम्ही कुरेदोगे यदि जड़ को, कहो विकास फिर कैसे होगा।
तुम्ही यदि आपस में झगड़े, लक्ष्य पूर्ण फिर कैसे होगा।।
तुम्ही यदि लोलुप बन बैठे, 'रामायण' फिर कौन लिखेगा।
तुम्ही यदि हिंसक बन बैठे, 'महाभारत' चहुँ ओर मचेगा।।

अगर तुम्ही 'छैला' बन बैठे, रंगे प्रतीची की धारा में।
बोलो फिर सुधार क्या होगा, बहे यदि उल्टी धारा में।।
तुम्ही यदि पड़ गये नियति में, कर्मशीलता घट जाएगी।
दुष्ट–दानवी दनुता जग में, मानवता पर चढ़ जाएगी।।

सुनो ! आर्यों ! तुम्हे आज फिर, नयी चेतना बुला रही है।
उठो और जागो तुम फिर से, नयी भावना जगा रही है।।
नयी शती की नूतन राहें, बाँह पसारे बुला रही है।
आशा की स्वर्णिम आभायें, शत–शत सूरज उगा रही है।।

महावीर "नीर" विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

("उद्बोधन" काव्य संग्रह से साभार)

अमनस्क योग

योग की विद्या प्राचीन भारतीय विद्या के रूप में निर्विवादित मान्य है। जहाँ योग की परम्परा में महर्षि पतञ्जलि को आधार स्तम्भ के रूप में देखा जाता है, वहाँ हठयोग के आचार्यों ने भी कम महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई अपितु ऋषि पतञ्जलि की राजयोग साधना से पूर्व हठयोग साधना की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है।[1] वैदिक योग की परम्परा को उपनिषदों ने काफी विस्तार दिया है। यदि मुख्य एकादशोपनिषद् में योग विद्या की सूक्ष्मता को देखा जाए तो वहाँ योग की अनेकविध व्याख्या प्राप्त हो जाती है। अन्य उपनिषदों में से लगभग २० उपनिषद तो योगोपनिषद् ही कहलाते हैं। उनमें हठयोग, नादयोग, जपयोग, मंत्रयोग आदि योग के अनेक प्रकारों का उल्लेख है। यदि उपनिषदों को हठयोग परम्परा का आदि स्रोत कहा जाए तो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

हठयोग की परम्परा नाथ सम्प्रदाय से प्रारम्भ मानी जाती है। नाथयोगियों ने इस परम्परा को विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से जीवित रखा तथा यह शिष्य परम्परा से अग्रसर होती हुई आज तक प्रवाहित हो रही है। इस सम्प्रदाय में मान्य मुख्य योगी गोरक्षनाथ के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, उन्हीं में एक ग्रन्थ "अमनस्क योग" भी कहा गया है। यद्यपि उस ग्रन्थ का गोरक्षकृत होने में सन्देह है तथापि नाथ सम्प्रदाय इसे गोरक्षकृत मानता है।[2] गोरक्ष के अन्य ग्रन्थों में जहाँ हठयोग की मान्यताओं की प्रशंसा की गई है[3], वहाँ इस ग्रन्थ में हठयोग की क्रियाओं को तिरस्कृत किया गया है।[4] संन्यास के लाक्षणिक चिह्नों का उपयोग भी पाखण्डवृत्ति रूप समझकर त्याज्य कहा गया है।[5] अत: हर प्रकार की साधना से अलग यह अमनस्क स्थिति है। योग बीज में गोरक्ष जिन सिद्धान्तों को साधना के लिए महत्त्वपूर्ण बताते हैं, यहाँ इस साधना पद्धति में वे उन्हें व्यर्थ सिद्ध करते दिखाई पड़ते हैं। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य का है, गोरक्ष जैसे महान् नाथयोगी का नहीं। डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी ने इसे अज्ञातकर्तृक माना है।[6]

अमनस्क योग की साधना का वर्णन करें तो मुख्य सात प्रधान तत्त्वों की बात की गई है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मनस् व परतत्त्व। मनस् तत्त्व सहित पंचमहाभूत मूर्त हैं जो इन्द्रियों के संयोग से अन्यान्य पदार्थों का साक्षात्कार करने में हेतु हैं। परतत्त्व इनसे सर्वथा सर्वदा अलग भाव–अभाव, उत्पत्ति–विनाश से रहित है, वह अपरिणामी, इन्द्रियों से अग्राह्य तथा संकल्पनाओं से रहित है।[7]

अमनस्कयोग की साधना में गुरु का स्थान सर्वोपरि है।[८] वह गुरु कैसा होना चाहिए ? इसके लिए निर्देश भी किया है कि वही गुरु होने योग्य है जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर है, जिसमें प्राण बिना प्रयत्न के स्थिर हैं, जिस का चित्त बिना अवलम्ब के स्थिर है।[९] ऐसा गुरु ही साधना का निर्देश कर सकता है। गुरूपदिष्ट मार्ग से एकान्त स्थल पर सुखपूर्वक आसन पर बैठकर सम्पूर्ण शरीर को शिथिल करे तथा चित्तरहित होकर दृष्टि को स्थिर करें[१०] तभी परतत्त्व के बोध की स्थिति सम्भव है तथा तभी अमनस्कता आती है।[११] ऐसा साधक निरन्तर चित्त नियन्त्रण की स्थिति बनाए रखने पर अमनस्कता की स्थिति में स्वाभाविक रूप से रहने लगता है। वह प्रथम अभ्यास में विषय पर दृष्टि केन्द्रित करता है लेकिन बाद में वह वहीं बिना विषय के भी दृष्टि को केन्द्रित कर लेता है और चित्त वहीं पर विलीन हो जाता है।[१२] जैसे निरंकुश हाथी अपने भोज्य पदार्थ को खाकर भी वापस लौट जाता है।[१३]

अमनस्कता की स्थिति में साधक के चित्त एवं प्राणों का विलय हो जाता है तथा दोनों का नाश होने पर इन्द्रियों का नाश हो जाता है, जिससे बाह्य ज्ञान समाप्त होकर परतत्त्व का बोध होता है तथा साधक परतत्त्व की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।[१४] ऐसा साधक सुख–दु:ख, शीतोष्ण आदि के ज्ञान से भी परे रहता है।[१५]

अमनस्क योग में साधक को अहं भाव को त्यागना श्रेयस्कर है जिसके लिए उदासीनता की आवश्यकता है। विश्व के पदार्थों में आसक्ति के स्थान पर उदासीनता को लाने का प्रयास करते रहें। प्रयास प्रारम्भ करते ही इस संसार रूपी वृक्ष का उन्मूलन प्रारम्भ हो जाता है और उदासीनता के पूर्ण प्रतिष्ठित होने पर यह संसारवृक्ष उखड़ जाता है।[१६] साधक को विश्व के प्रपंच से मुक्ति मिल जाती है।

इस अवस्था को महर्षि महेश योगी ने स्वानुभव से "भावातीत ध्यान" नाम देकर विश्व प्रसिद्ध कर दिया है। यह भावातीत ध्यान ही अमनस्क योग साधना का प्रथम सोपान है। इसी को अपनाकर साधक मुक्ति की स्थिति तक पहुंच सकता है।

महर्षि पतञ्जलि की ध्यान की अवस्था इसमें पहली स्थिति है, जिसे अमनस्क योग का प्रारम्भिक अभ्यास कहा जा सकता है तथा अन्तिम स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। यहाँ अमनस्क योग के दो भेद किए हैं—तारक योग व अमनस्क योग। तारक योग को पूर्व योग तथा अमनस्क योग को अपरयोग कहा है।[१७] पहली अवस्था में मन है तथा दूसरी अवस्था में मन नहीं है। लयस्थ अथवा अमनस्क भाव प्राप्त योगी जीवित, मृतादि की श्रेणी से परे होता है।[१८] वह जगद् व्यापार से मुक्त होकर रहता है।[१९] अत: इस अवस्था को जीवन्मुक्ति की अवस्था कहा जा सकता है।

इस योग के प्रकार के लिए उदासीनता को महर्षि पतञ्जलि ने वैराग्य के नाम से कहा है। वहाँ वैराग्य के ऊपर और पर भेद हैं। पर वैराग्य के बाद जो स्थिति प्राप्त होती है, वही अमनस्क योग की अवस्था है जिसे महर्षि पतञ्जलि असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहते हैं। इस साधना के लिए भी अभ्यास और वैराग्य मुख्य साधन हैं।

इस प्रकार विचारोपरान्त उक्त अमनस्क योग भी महर्षि पतञ्जलि की साधना प्रणाली के सर्वथा अनुरूप अवस्था है। योगी गोरक्षनाथ के नाथ सम्प्रदाय की साधना प्रणाली का स्तर इससे न्यून ही प्रतीत होता है। अतः इस पर शोध की आवश्यकता परिलक्षित होती है।

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

सन्दर्भ संकेत :—

१. केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठ प्रदीपिका — १/२
२. अमनस्क योग— सम्पादक—योगनाथ स्वामी
३. योग बीज—१९०—२११
४. अमनस्क योग— २/३२—३३, सं. ब्रह्ममित्र अवस्थी
५. अमनस्क योग—२/३५—३७, सं. ब्रह्ममित्र अवस्थी
६. अमनस्क योग— पृ. —८
७. भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम्।
सर्व संकल्पनातीतं परतत्त्वं तदुच्यते।।
अनाकारमवछिन्नमग्राह्यमचलं ध्रुवम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सर्वकामविवर्जितम्।। अमनस्क योग— १/२१—२२
८. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरोर्देवात्परं नास्तिं तस्मात्तं पूजयेत् सदा।। अमनस्क योग— २/४५
९. दृष्टि स्थिरा यस्य विनैव दृश्यात्
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्बात्
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।। अमनस्क योग— २/४६

१०. एवं विधगुरोः शब्दात्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव सदाभ्यसेत्।।
विविक्त देशे सुखसन्निविष्टः समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिर दृक् श्लथाङ्गः चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व।। अमन. १/२७–२८

११. न किंचिन्मनसा ध्यायेत् सर्वचिन्ता विवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायेत् तत्त्वसम्मुखः।। अमन. १/३१

१२. तत्त्वस्य सम्मुखे जाते त्वमनस्कं प्रजायते।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादि विलयो भवेत्।।
चित्तादि विलये जाते पवनस्य लयो भवेत्।
मनः पवनयोर्नाशाद् इन्द्रियार्थान् विमुञ्चति।।
इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो बाह्यज्ञानं न जायते।
बाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वमयो भवेत्।। अमन. १/३२–३४

१३. प्रथमं निःसृतादृष्टिः संलग्ना यत्र कुत्रचित्।
स्थिरीभूताच तत्रैव विनश्यात् शनैः शनैः।। अमन. २/६७

१४. यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते।
अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते।। अमन. २/७७

१५. सुख–दुःखे न जानाति शीतोष्णे न च विन्दति।
विचरंश्चेन्द्रियार्थेषु न वेत्ति न च लयं गतः।। अमन. १/३७

१६. यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्संकल्पकल्पना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिः तावत्तत्त्वस्य का कथा।।
औदासीन्यामृतौपेन वर्धमानेन योगिनाम्।
उन्मूलित मनोमूलो जगद्वृक्षः पतिष्यति।। अमन. २/५९–६०

१७. अमनस्क योग–१/५–६

१८. अमनस्क योग–१/३९

१९. अमनस्क योग–१/४०

धूम्रपान विश्व समस्या

भारतवर्ष में तम्बाकू पीने की आदत का अधिक प्रभावशाली प्रचार–प्रसार पुर्तगालियों द्वारा १७ शताब्दी में प्रारम्भ किया गया उनके अथक् प्रयास से तम्बाकू सेवन का कार्य इतना सफल हुआ कि थोड़े समय में ही पूरे भारत में इसके सेवन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी, जो आज एक मुसीबत बनकर हमारे सम्मुख खड़ी है। जिसमें देश का बचपन घुल–घुलकर मर रहा है। माँ–बाप अपनी सन्तानों को धूम्रपान से दूर रखने के बजाय उनको भी धूम्रपान में सहयोगी बना रहे हैं। वे अशिक्षा के कारण इस मीठे विष की जानकारी रखने में असमर्थ हैं। भारतवर्ष में तम्बाकू पीना, खाना तथा सूंघना तीनों ही विधियां इतने विकसित रूप में पायी जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति इसके दोष जाने बिना ही इसे स्वीकार कर रहा है। पूर्व में स्त्रियां पुरुषों से छिपकर धूम्रपान करती थी लेकिन अब दोनों ही सामाजिक मान्यता प्राप्त हैं।

सामाजिक मानदण्डों में आये परिवर्तन के कारण आज स्थितियां बदल रही है। इस समय बच्चों एवं महिलाओं में नशे की आदत बढ़ रही है। अब नशे की आदत प्रतिष्ठा चिन्ह बनती जा रही हैं। राजनीति से सम्बन्धित व्यक्तियों, उच्च पदों पर आसीन एवं उच्च मानसिकता वाले अधिकतर व्यक्तियों के लिए आजकल बिना नशे के रहना, उनके वश से बाहर हो गया है। वे इसके इतने आदी हो चुके हैं कि खाना न मिले तो चल सकता है, लेकिन नशा आवश्यक है। तम्बाकू के नशे का धन्धा भारतवर्ष में इस तरह फल–फूल गया है कि इसका सफाया करना बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि यह विश्व बाजार का भी प्रमुख अंग बन चुका है। अब यह कई आयामों से भी जुड़ गया हैं। जैसे कि खेती, उद्योग, लघु उद्योग आदि जो रोजगार का स्रोत बनकर उभरे हैं। बीड़ी, सिगरेट की बड़ी–बड़ी कम्पनियां है जो प्रतिवर्ष लाखों लोगों को रोजगार मुहैया कराती है। सरकार को भी कर के रूप में काफी धन का अर्जन होता हैं इस प्रकार तम्बाकू नशा एक धन्धे के रूप में ही विकसित ही नहीं है अपितु इसका सम्बन्ध आय स्रोत से है। केन्द्रीय राजकोष में इससे १५५० करोड़ रूपये से अधिक की आय प्रतिवर्ष प्राप्त होती है। इसके साथ ही कई हजार लोगों को रोजगार प्राप्त होता है।[१]

तम्बाकू का नशा एक सामाजिक बुराई है। इस लत को पालना तो सुगम है लेकिन इससे निजात पाना बड़ा कठिन है क्योंकि यह धन्धा आर्थिक तथा रोजगार से जुड़ा है। समाज का एक

बड़ा वर्ग तम्बाकू की खेती करता है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष लगभग ५ लाख हेक्टेयर भूमि पर तम्बाकू की खेती की जाती है। इस प्रकार यह कृषि से लेकर उद्योग तक जुड़ चुका है। इसमें कमी लाने के लिए किसानों को तथा उद्योगों को कैसे रोका जाये यह एक बड़ी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। आज सामाजिक संस्थाएं, स्वास्थ्य संस्थाएं तथा राष्ट्र चिन्तक इस बात पर काफी गम्भीर है कि इस लत से छुटकारा कैसे पाये, क्योंकि तम्बाकू के सेवन से शरीर, स्वास्थ्य तथा मानसिकता पर कुप्रभाव पड़ रहा है। इसका सेवन इतना घातक रूप ले रहा है कि प्रतिवर्ष समस्त विश्व में ३५ लाख व्यक्तियों की मौत धूम्रपान के कारण होती है। यदि धूम्रपान की यही प्रवृत्ति जारी रही तो प्रति १० सैकेंड में एक व्यक्ति की मौत का कारण धूम्रपान होगा । एक अनुमान के अनुसार २०२० तक धूम्रपान से होने वाली मौते एड्स, क्षय रोग, आत्महत्या, सड़क दुर्घटना, हत्याओं को मिलाकर अधिक होगी।[२]

यद्यपि तम्बाकू सेवन साक्षात् मौत दर्शन है, लेकिन फिर भी तम्बाकू से बनी वस्तुओं के निर्यातक देश तम्बाकू सेवन को अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु ऐसे विज्ञापन प्रस्तुत करते हैं कि धूम्रपान मुक्ति एवं शक्ति के प्रतीक स्वरूप हो और धूम्रपान ही उच्च सभ्यता का प्रतीक हो। विशेषज्ञों का मानना है कि तम्बाकू कम्पनियां एशिया के युवाओं तथा महिलाओं को तम्बाकू सेवन हेतु प्रेरित करने में जुटी है तथा इनको काफी सफलता भी प्राप्त हुई है। इस समय धूम्रपान की ओर युवा वर्ग काफी आकर्षित हो रहा है। इसके तीन मुख्य कारण प्रतीत होते हैं –

१. जिज्ञासावश

२. विद्रोह

३. सामाजिक स्तर

युवा वर्ग ८० प्रतिशत तम्बाकू का सेवन कर रहा है । विशेषज्ञों का यह मानना है कि यदि कोई किशोर २० वर्ष की आयु बिना धूम्रपान के पार कर लेता है तो उसकी धूम्रपान की सम्भावनायें क्षीण हो जाती हैं। धूम्रपान की लत बहुधा बचपन से ही लग जाती है। जिसका निदान करना बहुत ही अवश्यक है। जब बालक के माता–पिता दोनों ही धूम्रपान करते हैं तो बालक को धूम्रपान से रोकना तर्क संगत प्रतीत नहीं होता है। बच्चों पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी काम करता है। धूम्रपान से थकान मिटती है, चिन्ता का निवारण होता है, अवसाद दूर होता है, धूम्रपान से इच्छा शक्ति बलवती होती है इस प्रकार की सामाजिक बुराईयां युवा वर्ग को अच्छाइयां नजर आती हे और धूम्रपान करने की प्रवृत्ति का विकास होता रहता है। इसी कारण यह बीमारी छात्रों में अधिक बढ़ती प्रतीत हो रही है। छात्र एवं युवा वर्ग अधिकतर तम्बाकू का प्रयोग बीड़ी, सिगरेट तथा खाने के रूप में करता है, जबकि अधेड़ व्यक्ति तम्बाकू खाने व सूंघने में प्रयोग अधिक करता है। पान

खाने वाले लोगों में भी तम्बाकू वाला पान अधिक मात्रा में खाया जाता है। इस प्रकार तम्बाकू सेवन की विभिन्न विधियां एवं रूप प्रचलित हैं जो तम्बाकू सेवन से जुड़ी है।

अनुमान है कि विश्व में २ खरब ५० अरब डालर मूल्य की सिगरेट प्रतिवर्ष बिकती है। भारतवर्ष विश्व का तीसरा बड़ा तम्बाकू उत्पादक देश है। प्रथम स्थान पर चीन है तथा द्वितीय स्थान अमेरिका का है। तम्बाकू की खपत में से ८० प्रतिशत खपत संसार के सभी देशों में भारत को छोड़कर सिगरेट के रूप में होती है। २० प्रतिशत खपत दूसरे रूपों में होती है।[3] लेकिन भारत में सिगरेट की खपत बहुत ही कम है, वह लगभग १० प्रतिशत है। विकसित देशों का नवयुवक १९८० के दशक में प्रतिवर्ष २८०० सिगरेट का सेवन करता था जबकि १९८० के दशक में यह संख्या घटकर २४०० सिगरेट प्रतिवर्ष हो गयी है। इससे प्रतीत होता है कि धूम्रपान के प्रति विकसित देशों का नवयुवक कुछ सजग जरूर है लेकिन धूम्रपान से मुक्त नहीं है। दक्षिण के गरीब विकासशील देशों में यह संख्या बढ़ी है। प्रति युवा प्रतिवर्ष ११५० सिगरेट से बढ़कर अब १४०० सिगरेट प्रति व्यस्क हो चुकी हें यह बढ़ोत्तरी १.७ प्रतिशत की रफ्तार से बढ़ रही है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की ताजा रिपोर्ट के अनुसार दुनियाभर में ४० करोड़ लोग तम्बाकू सेवन करते हैं तथा अकेले भारत में २० करोड़ की जनसंख्या धूम्रपान के सेवन की आदी है।[4] विकसित देशों में धूम्रपान करने वाले पुरुषों का प्रतिशत ४१ है तथा विकासशील देशों के पुरुषों का प्रतिशत ५० है। महिलाओं का प्रतिशत विकसित देशों में २१ है लेकिन विकासशील देशों में यह प्रतिशत ०८ है लेकिन अब धीरे–धीरे विकासशील देशों की औरतों में भी यह लत बढ़ती जा रही है। जो स्कूली शिक्षा के साथ–साथ यह भयानक रोग बढ़ रहा है। आज विश्वविद्यालय एवं कालिज इसके अखाड़े बनते जा रहे हैं। धार्मिक क्षेत्र में भी नशे की लत जोर पकड़ रही है। थाइलैंड के १० प्रतिशत बौद्ध भिक्षु हमेशा नशे में धुत रहते है।[5] इस प्रकार नशे की बीमारी बढ़ती जा रही है। जो मौत का कारण बनकर हमारे सम्मुख खड़ी है। अमरीकी सर्जन जनरल की रिपोर्ट २००१ के अनुसार अमेरिका में प्रतिवर्ष १.६५ लाख महिलाओं की मौत का कारण धूम्रपान है। अमेरिका में धूम्रपान करने की आदत १९६५ के बाद दो गुना हो गयी है।[6]

तम्बाकू की लोकप्रियता का मुख्य आधार तो नशा ही है। लेकिन इसके पीछे एक बड़ा रहस्य यह भी है कि यह दु:ख को तो कम करता है इसलिए मजदूर एवं किसान इसका प्रयोग भूख मिटाने अथवा सुस्ताने हेतु भी करता है। तम्बाकू के प्रयोग से भूख की कमी से उसे आराम प्राप्त होता है। इसलिए लोगों का मानना है कि तम्बाकू सेवन से लाभ होता है लेकिन यह लाभ कब हानि में बदल जाये इसका आभास तभी होता है जब मानव मौत के करीब पहुंच जाता है।

धूम्रपान इतना खतरनाक है कि जो धूम्रपान करने वाले के पास होता है वह भी उन सब बीमारियों का शिकार हो जाता है जिनका प्रभाव धूम्रपानकर्त्ता पर पड़ता है । इसे परोक्ष या निष्क्रिय धूम्रपान कहते हैं।

धूम्रपान से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से निम्न प्रभाव होते है –

१. एक सिगरेट से लगभग १७ मिलिग्राम कण निकलते हैं जो ०.९ मिलिग्राम प्रति घन मीटर के घनत्व की वायुमण्डल में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार यदि एक कमरे में एक पैकेट सिगरेट पिया जाये तो लगभग १८ मिलिग्राम प्रति घनमीटर घनत्व की वृद्धि करता हैं।

२. सिगार एवं हुक्के द्वारा फेंका गया धुआं क्षारीय तथा सिगरेट का धुआं अम्लीय होता है। सिगार एवं हुक्के के धुएं में आयनित कण होते है जो वसा में घुल जाते हैं। जबकि सिगरेट के धुएं में अनआयनित कण होते हैं जो वसा में घुल नहीं पाते हैं। सिगार व हुक्के का धुआं मुख की झिल्ली से रक्त में पहुंच जाता है। यह फेफड़ों को कम हानि पहुंचाता है।

३. धूम्रपान से निकलने वाले धुएं के कणों का व्यास ०.२–०.४ होता है, जो वाहनों अथवा कारखानों की चिमनी से निकलने वाले धुएं के कणों से बहुत छोटा होता है। इसलिए यह श्वास के द्वारा आसानी से फेफड़ों तक पहुंच जाता है। यही कारण है कि धूम्रपान से सबसे ज्यादा हानि फेफड़ों को होती है।

४. धूम्रपान का अधिक प्रभाव हृदय, मस्तिष्क, रक्त वाहिनी तथा मूत्राशय पर पड़ता है। धुएं से निकलने वाला निकोटिन रक्त में मिल जाता है। इस कारण शरीर के इन अवयवों पर अधिक दुष्प्रभाव पड़ता है।

५. धूम्रपान के धुएं में कार्बन मोनो ऑक्साइड की उपस्थिति के कारण यह हिमोग्लोबिन से ऑक्सीजन के मुकाबले जल्दी जुड़ जाता है और वह कार्बोक्सी हिमोग्लोबिन बनाता है। इस प्रकार हिमोग्लोबिन की ऑक्सीजन को शरीर के अंगों तक ले जाने की क्षमता प्रायः क्षीण हो जाती है।

६. एक साधारण धूम्रपानकर्त्ता में कार्बोक्सी हिमोग्लोबिन लगभग १५ प्रतिशत होता है। कार्बोक्सी हिमोग्लोबिन की हाफ लाइफ ४ घण्टे होती है। इसलिए एक बार धूम्रपान करने पर रक्त में इसका प्रभाव ४ घण्टे रहता है।

७. पॉलीसाइक्लिक हाइड्रोकार्बन (टार) एवं एन–नाइट्रोकमपाउन्ड भी धूम्रपान के धुएं में अधिक मात्रा में पाये जाते है जो गले, फेफड़े तथा मूत्राशय में कैंसर पैदा करते हैं।

८. **धूम्रपान के धुएं से प्राय: श्वास नलियां संकुचित हो जाती है जिससे शरीर को श्वास लेने तथा छोड़ने में परेशानी का सामना करना पड़ता है श्वास नली के संकुचन के कारण इनमें बल्गम के फंसने का भय रहता है बलगम के फंसने के कारण धूम्रपानकर्त्ता अस्थमा,** एम्फाइसीमा, खांसी आदि बीमारियों की चपेट में आ जाता है।

भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् के राष्ट्रीय कैंसर पंजीकरण कार्यक्रम द्वारा एकत्र किये गये आंकड़ों पर आधारित आंकलनों के अनुसार देश में कैंसर की कुल घटनाओं में एक तिहाई घटनाएं तम्बाकू के कारण होती है।[७]

धूम्रपान से हानियाँ :—

१. **कैंसर :—**

(क) फेफड़ें का कैंसर धूम्रपान करने वालों में अधिक पाया जाता है।

(ख) मुहँ तथा गले में कैंसर की सम्भावना धूम्रपान से ५ से १० प्रतिशत बढ़ जाती है।

(ग) मूत्राशय, गुर्दा और अग्नाशय के कैंसर में भी धूम्रपान का ही योगदान है।

२. **रक्त वाहिनी के रोग :—**

(क) उच्च रक्तचाप के लिए भी धूम्रपान ही दोषी है। धूम्रपान परोक्ष रूप से भी रक्तचाप को प्रभावित करता है।

(ख) धूम्रपान से व्यक्ति के खून में कोलेस्ट्रोल की मात्रा बढ़ना भी पाया जाता है।

(ग) रक्तवाहिनी के रूकने के कारण पैरों का दर्द भी बढ़ जाता है यदि रोगी अधिक धूम्रपान का आदी है तो शरीर के अंग सूखने लगते हैं।

(घ) रक्तवाहिनी में रुकावट आने से हृदय रोग में धूम्रपान से वृद्धि होती है और मरीज को दिल का दौरा पड़ने की सम्भावनायें अधिक होती हैं।[८]

इस प्रकार धूम्रपान करने वाला कभी भी आकस्मिक मौत का शिकार हो सकता है।

३. **गर्भावस्था में हानियाँ :—**

(क) धूम्रपान के द्वारा निकोटिन व कार्बन मोनो ऑक्साइड माता के बच्चे के रक्त में चला जाता है जिससे बच्चे का पोषण अवरूद्ध होता है।

(ख) धूम्रपानकर्त्ता माता के बच्चे का वजन भी प्रभावित होता है।[९]

(ग) धूम्रपान व्यसनी माता के बच्चे की गर्भ में मृत्यु की सम्भावना बढ़ जाती है।

(घ) तम्बाकू एल्कलायड़ भ्रूण पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए प्रमुख रूप से जिम्मेदार है। तम्बाकू के खाने तथा पीने दोनों ही प्रकार से भ्रूण पर समान प्रभाव दिखायी देता है।

४. आर्थिक व्यय :—

तम्बाकू पीने अथवा खाने से दोनों ही प्रकार के व्यसनों से आर्थिक व्यय होता है। इनके साथ ही इससे होने वाले रोगों को दूर करने के लिए बहुत धन खर्च करने पर भी जीवन रक्षा पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

५. स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव :—

धूम्रपान प्राय: स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। इसके सेवनकर्त्ता खांसी, दमा, कैंसर आदि बीमारियों का शिकार बन जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की सर्जन जनरल्स रिपोर्ट ने पहली बार सरकारी नीति का उल्लेख किया था जिसमें निश्चित रूप से स्पष्ट किया था कि धूम्रपान करना स्वास्थ्य के लिए बहुत ही खतरनाक है।

६. परोक्ष हानियाँ :—

जो लोग धूम्रपान नहीं करते हैं उनको भी इसका धुआं क्षमा नहीं करता है। ऐसा अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जो लोग धूम्रपान नहीं करते यदि उनको धूम्रपानकर्त्ता का सहवास प्राप्त होता है तो वह अधिक हानिकर है।

७. आयु में कमी :—

यू.के एवं यू.एस.ए. में किये गये अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि २५ सिगरेट प्रतिदिन पीने वाले की आयु औसतन ५ वर्ष आयु घटती है अर्थात् एक सिगरेट ५ मिनट आयु कम करने में सहायक है।

इस प्रकार धूम्रपान की हानियां एवं कुप्रभावों को देखते हुये सरकार ने सार्वजनिक स्थानों में धूम्रपान सेवन करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है लेकिन लोग अभी भी इस मीठे जहर के नुकसानों से अपरिचित बने हुये हैं तथा खुल्लम—खुल्ला सरकारी निर्देशों की अवहेलना करते पाये जाते हैं। धूम्रपान केवल स्वयं के लिए ही हानिकारक नहीं है अपितु— परिवार, मित्र, समाज तथा राष्ट्र के लिए भी हानिकारक है। इस बुराई को समाप्त करना ही श्रेयस्कर है। तम्बाकू नशा छोड़ने का संकल्प लेकर राष्ट्र तथा समाज सेवा में अपना योगदान अर्पित करें।

डॉ. जे. एस. मलिक
सहायक निदेशक
प्रौढ़, सतत् शिक्षा एवं प्रसार विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सन्दर्भ :–

१. आरोग्य सन्देश – मई १९८४, नई दिल्ली।

२. नवभारत टाइम्स – ३१ मई १९९८, नई दिल्ली।

३. हिन्दुस्तान – ९ फरवरी १९९५, नई दिल्ली।

४. मेरी सहेली – मई २००२, मुम्बई।

५. राष्ट्रीय सहारा – २९ मार्च २००१, नई दिल्ली।

६. राष्ट्रीय सहारा – २९ मार्च २००१, नई दिल्ली।

७. आरोग्य सन्देश – मई १९९४, नई दिल्ली।

८. गुप्ता, एस.वी. स्मोकिंग एण्ड कार्डियों वैस्कुलर डिजीजेज इन टोबेको एण्ड हेल्थ दि इंडियन सीन एडीटर्स एल. डी. सिन्धवी एण्ड पी. नोटानी, यू.आई.सी.सी. एण्ड टाटा मेमोरियल सेन्टर बाम्बे पेज –१६, १९८९ ।

९. कन्ट्रोलिंग दि स्मोकिंग एपीडेमिक डब्लू.एच.ओ. टेकनिकल रिपोर्ट सिरीज ६३६, १९७६।

१०. स्मोकिग एण्ड हेल्थ ए रिपोर्ट ऑफ सर्जन जनरल डी.एच.ई. डब्लू पब्लिकेशन नं. –(पी.एच. एस.) ७९ – ५००६६ यू.एस. डिपार्टमेन्ट ऑफ हेल्थ, ऐजुकेशन एण्ड वेलफेयर रॉक विले मैरीलैंड १९७९ ।

"हे श्रद्धानन्द ! शत-शत वन्दन"

तुम जीवन का उजियार बनें,
जन–जन के मन का हार बने,
तुमको अर्पित मेरा वन्दन, हे श्रद्धानन्द ! शत–शत वन्दन!
जग जीवन को दे नव जीवन, यह काया जगती का आँगन!
हे कालजयी! तुम अमृत थे, अमृत कर दिया जगत पावन!!
शक्ति के अक्षय स्रोत बनें, निर्माण बना शाश्वत अनुचर–
जब पतझर ने निगला वसन्त, तुम बनकर आए तब सावन!!
तुम सृजन के मेघ–मल्हार बने,
हर मन का पावन प्यार बने,
स्वीकार करों मेरा वन्दन, हे श्रद्धानन्द ! शत–शत वन्दन !
भारत को फिर गौरव देकर, शक्ति का मंत्र दिया तुमने !
अपनी आज़ादी को ऋषिवर, शक्ति का मंत्र दिया तुमने !!
जो भूल गए थे राष्ट्र धर्म, उनको दिखलाई राह नई–
सच पूछो तो इस भारत को सच्चा गणतंत्र दिया तुमने !!
तुम अमृत का आगार बने,
हर पीड़ित का संसार बने,
मन करता है नित–नित वन्दन, हे श्रद्धानन्द ! शत–शत वन्दन !
संस्कृति जिसका आधार बनी, शिक्षा का ऐसा दान दिया !
ज्ञानामृत दिया जगत को नव, गुरुकुल का यह वरदान दिया !!
घर–घर में गूंजे वेदमंत्र, मानव को दृढ़ आधार मिला–
है सभी आज उपकृत ऋषिवर ! तुमने जो युग को ज्ञान दिया !!
तुम मानवता का सार बने,
भारत का तुम आधार बने,
है सदा समर्पित शत वन्दन, हे श्रद्धानन्द ! शत–शत वन्दन !!
हे देववाणी के आराधक, वेदों का हो उजियार तुम्हीं !
तुम दर्पण हो मानवता का, नवजीवन का आधार तुम्हीं !!
दैहिक दृढ़ता के चिर प्रतीक, शक्ति के अक्षय स्रोत अमर–
तुम आत्म–ज्ञान के दीप, विश्व की संस्कृति का हो सार तुम्हीं !!
तुम गंगा जल की धार बने !
सीमा होकर विस्तार बने !!
जन–मन का अर्पित नित वन्दन, हे श्रद्धानन्द ! शत–शत वन्दन !

डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण', डी.लिट्.
पूर्व प्राचार्य
७४/३, न्यू नेहरु नगर, रुड़की–२४७६६७